ISSN : 2456-8856

पंजीयन संख्या RNI No.: MPHIN/2002/9510 डाक पंजीकृत क्रमांक मालवा डिवीजन/204/2021-2023 उज्जैन (म.प्र.)

UGC Care Listed and Peer Reviewed Referred Bilingual Monthly International Research Journal

प्रेषण दिनांक 30 पृष्ठ संख्या 28

आश्वस्त

वर्ष 24, अंक 216 अक्टूबर 2021

धम्मचक्र प्रवर्तन दिवस

की

हार्दिक शुभकामनाएं

संपादक – डॉ. तारा परमार

भारती दलित साहित्य अकादमी मध्यप्रदेश, उज्जैन की अन्तर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका

वर्ष : 24 अंक 216
अक्टूबर 2021

आश्वस्त

(सन् 1983 से निरंतर प्रकाशित)

RNI No.: MPHIN/2002/9510
ISSN : 2456-8856

भारती दलित साहित्य अकादमी मध्यप्रदेश, उज्जैन (पंजीयन क्रमांक 2327 दिनांक 13/05/1999) की मासिक पत्रिका

संस्थापक सम्पादक
डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी

संरक्षक
सेवाराम खाण्डेगर
11/3, अलखनन्दा नगर, बिड़ला हॉस्पिटल के पीछे,
उज्जैन मो.: 98269-37400

परामर्श
आयु. सूरज डामोर IAS
पूर्व सचिव-लोक स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण वि.
म.प्र.शासन, भोपाल मो. 094253-16830

सम्पादक
डॉ. तारा परमार
9-बी, इन्द्रपुरी, सेठी नगर, उज्जैन-456010
मो. 94248-92775

सम्पादक मण्डल :
डॉ. जयप्रकाश कर्दम, दिल्ली
डॉ. खन्नाप्रसाद अमीन, गुजरात
डॉ. जसवंत भाई पण्ड्या, गुजरात
डॉ. शैलेन्द्र कुमार शर्मा, म.प्र.

कानूनी सलाहकार
श्री खालीक मन्सूरी एडव्होकेट, उज्जैन

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	लेखक	पृष्ठ
1.	अपनी बात	डॉ. तारा परमार	03
2.	दलित सौन्दर्य शास्त्र और प्रमुख आत्मकथाएँ	डॉ. तारु एस.पंवार	04
3.	विक्टोरियन कालीन भारत में शिक्षा	डॉ. खीमाराम काक	10
4.	जन विरोधी समस्या का आधुनिक समाधान : एक चक्रानगरी	डॉ. मृगेन्द्र राय	16
5.	उत्तराखण्ड में सामाजिक न्याय दर्शन और अम्बेडकरवादी विचारधारा का ऐतिहासिक अध्ययन	प्रभाकर पाण्डेय	19
6.	डॉ. रामविलास शर्मा की बुद्ध वैराग्य कविता और बुद्ध दर्शन	डॉ. संजय रणखांबे	25

UGC Care Listed Journal

खाते का नाम – आश्वस्त (Ashwast)
खाते का नं.– 63040357829
बैंक – भारतीय स्टेट बैंक,
शाखा– फ्रीगंज, उज्जैन (Freeganj, Ujjain)
IFS Code - SBIN0030108

Web : www.aashwastujjain.com
E-mail : aashwastbdsamp@gmail.com

एक प्रति का मूल्य	:	रुपये 15/-
वार्षिक सदस्यता शुल्क	:	रुपये 150/-
आजीवन सदस्यता शुल्क	:	रुपये 1,500/-
संरक्षक सदस्यता शुल्क	:	रुपये 10,000/-

विशेष : सम्पादन, प्रकाशन एवं प्रबंध अवैतनिक तथा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से सम्पादक-मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायालय क्षेत्र उज्जैन रहेंगा।

अपनी बात

महान राजनीतिज्ञ चाणक्य की राजनीति पर लिखी पुस्तक–''अर्थशास्त्र'' है, इसका केवल अर्थशास्त्र से ही संबंध नहीं है वरन् अन्य विधाओं से भी सरोकार है। इतिहास और अनुभव बताता है कि अधिकतम का हित अर्थनीति का केन्द्र होता है। नैतिक मूल्यों का परित्याग किसी भी स्थिति में अहितकर होता है। हर शास्त्र और हर विधा के केन्द्र में आम आदमी की रक्षा सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है।

समाज के विभिन्न वर्गों में अर्न्तविरोध के पीछे भी आर्थिक मुद्दे होते हैं लेकिन वे हाशिये पर ठेल दिये जाते है और धार्मिक प्रश्न केन्द्र बिन्दु के रूप में उभरते है। हमारे यहाँ भी यही होता रहा है जिसका सबसे बड़ा कारण यह है कि उत्पादन संबंधों की अवस्था पिछड़ी हुई रहती है जिससे आर्थिक अर्न्तविरोध मुखर नहीं हो पाते, किंतु यह कहना कि आर्थिक अर्न्तविरोध थे ही नहीं सच्चाई को नकारना है। किसान और आदिवासी विद्रोह–संघर्ष के मूल में आर्थिक कारण ही रहे है।

स्वामी विवेकानन्द ने इस वस्तुस्थिति को समझा और सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों को प्राथमिकता देकर परिवर्तन की कोशिश की। इसलिये उन्होंने जन–शिक्षा को विशेष महत्व दिया। शिक्षा को उन्होंने दलितों की मुक्ति और परिवर्तन के वाहक के रूप में देखा। सामाजिक गतिशीलता के रूप में नई ऊर्जा एवं नई गतिशीलता पैदा करने के लिये यह आवश्यक है कि शिक्षा समाज के उत्पादक वर्ग तक पहुँचे दलित, उत्पीड़ित, शोषित और श्रमिक मानवता में परिवेश को समझने की विवेचनात्मक चेतना जागे, इस संदर्भ में वे शिक्षा को देखते है और वे चाहते थे कि किसान, मोची, मेहतर और दूसरे निम्न वर्ग तक शिक्षा पहुँचे। उनका तर्क है कि युगों से यह शोषित मानवता खामोशी की संस्कृति में जीती हुई भूमि की दौलत का निर्माण करती आ रही है। इसी श्रमिक मानवता ने हम लोगों का सभ्यता से परिचय कराया है....और ये ही इसे ध्वस्त भी कर सकते हैं....इसलिये मैं कहता हूँ कि शिक्षा और संस्कृति के माध्यम से इन वंचित–पिछड़े वर्गों को निंद्रा से उठाओ, वे ललकारते हुए कहते हैं कि गंगा में अपने शास्त्रों को फैंक दो। पहले दलितों को जीविकोपार्जन के लिये शिक्षित करो इसके बाद वे पढ़ लेगें।

स्वामी विवेकानन्द कहते है कि दलितों को केवल अक्षर ज्ञान ही नहीं हो, बल्कि उसे तकनीकी शिक्षा भी दी जाए। विगत कुछ दशकों से शिक्षा शास्त्री समाजशास्त्री और नेतृत्वशास्त्री शिकायत कर रहे हैं कि अनुसूचित जाति एवं जनजाति के बच्चों की शिक्षा में दिलचस्पी नहीं है। वे पाठशाला से जी चुराते है। लेकिन इस वैज्ञानिक संन्यासी ने तभी कह दिया था कि शिक्षा को दलितों के परिवेश के अनुकूल बनाओ।

उन्होंने बताया था कि अछूतवाद हिन्दू धर्म नहीं है। यह न वेद है, न पुराण, न भक्ति और न ही मुक्ति। हिन्दू धर्म डेगची में समा गया है। वर्तमान हिन्दू धर्म न तो ज्ञान का मार्ग है और न ही विवेक का। यह केवल मत–छुओ वाद है। विषमता पर आधारित सवर्णवादी व्यवस्था के मूल्यों को तोड़ते हुए विद्रोही संन्यासी यहाँ तक घोषणा कर डालते हैं, ''मैं एक शूद्र हूँ, एक मलेच्छ हूँ...मैं प्रत्येक और किसी भी व्यक्ति के साथ कुछ भी व प्रत्येक चीज खाता हूँ...और वह भी सार्वजनिक रूप से.... चाहे देश हो या विदेश....उनकी इस चुनौतीपूर्ण घोषणा में दो तत्व मुख्य रूप निहित है–सर्वप्रथम सर्वणवादी मूल्य व्यवस्था को चुनौती देना और दूसरा वे जीवन के हर क्षेत्र में समानता चाहते हैं।

एक आधुनिक समाजशास्त्री की भांति यह वेदांती संन्यासी जाति की गतिशीलता, संस्कृतिकरण, सवर्णों द्वारा दलित वर्गों की प्रतिभाओं का दत्तीकरण, प्रतिभा पलायन, दलित वर्ग का स्वः प्रतिभा–वचन जैसे मौलिक प्रश्न उठाता है। ये प्रश्न आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने उस समय थे।

– डॉ. तारा परमार

दलित सौन्दर्य शास्त्र और प्रमुख आत्मकथाएँ

– डॉ. तारु एस. पंवार

साहित्य समाज का दर्पण होता है और परिवर्तन सृष्टि का नियम है। अतः समय के साथ सब कुछ बदल देना ये प्रकृति का प्रकोप है। मानव समाज और जीवन भी हमेशा परिवर्तनशील रहा है। इसलिए समाज और जीवन के पुराने प्रतिमान नये प्रतिमान से मेल नहीं खाते। इस तरह जीवन के तौर–तरीके, रंग–ढंग, रहन–सहन, आचार–विचार, व्यवहार, आदर्श, मूल्य आदि के साथ–साथ सौन्दर्य और सौन्दर्यशास्त्र का दृष्टिकोण भी बदलता रहता हैं। इसलिए प्रत्येक युग में सौंदर्य के मानदंड भी समयानुसार बदलते गए हैं। पहले कुछ विचारकों ने दृश्य और सौंदर्य पर बल दिया तो किसी ने ऐन्द्रिय सौंदर्य पर और फिर किसी ने नितांत बौद्धिक सौंदर्य पर बल दिया है। इसी परिवर्तन के परिणामस्वरूप आज हमारे सामने है दलित साहित्य और सौन्दर्य शास्त्र। हिन्दी का 'सौन्दर्य शास्त्र' शब्द पाश्चात्य 'एस्थेटिक्स' का पर्यायवाची है, जिसका अर्थ होता है कि–ऐन्द्रिय संवेदना का शास्त्र। सन् 1750 ई. में पाश्चात्य विद्वान बाउमगार्तेन ने सबसे पहले एस्थेटिक्स शब्द का प्रयोग संवेदनशील ऐन्द्रिय बोध के अर्थ में किया था। आगे चलकर ही गेल ने इसका प्रयोग ललित कलाओं के दर्शन के अर्थ में किया। बाद में काव्य के सौन्दर्य अथवा प्रकृति सौन्दर्य के विश्लेषणात्मक निरूपण के अर्थ में प्रयोग होने लगा। पाश्चात्य विद्वान रोगर फ्राई ने सौंदर्य शास्त्र को लेकर कहा है कि– 'कलात्मक अनुभव संसार के अन्य सभी अनुभवों– नैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि से विलक्षण एवं महान होता है।'

भारतीय सौन्दर्य शास्त्र का प्रारंभिक सीमा नाट्य शास्त्र है। इसलिए यहाँ सबसे पहले नाट्य शास्त्र का विकास हुआ। फिर काव्य शास्त्र का और अन्त में इन विकास दशाओं के समीकरण से सौन्दर्य शास्त्र का अवतरण हुआ है। डॉ. नगेन्द्र ने सौन्दर्य शास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य की कल्पना और अभिव्यक्ति से माना है तो डॉ. के. सी. पाण्डेय ने ललित कलाओं का विज्ञान और दर्शन को स्वीकार किया है। अतः सौंदर्य शास्त्र का विवेच्य विषय सौंदर्य, ऐन्द्रिय संवेदना और उसके आधार के रूप में प्रकृति तथा कला को स्वीकार किया गया है। सौन्दर्य शास्त्र नारी के बाह्य तथा आन्तरिक सौन्दर्य की तरह माना जाता है। जैसे बाह्य सौन्दर्य में नारी के रंग–रूप, नयन–नक्श, साज–श्रंगार, वस्त्र–आभूषण आदि आते है, वैसे आन्तरिक सौन्दर्य में नारी के चाल–चलन, आचरण–विचरण, स्वभाव, विनम्रता, सौम्यता, कार्य कुशलता आदि आते हैं। कोई सुन्दर स्त्री का चाल–चलन ठीक नहीं और घर में क्लेश पैदा करके बर्बाद करती है। किसी के प्रति सेवा–सम्मान का भाव नहीं रखती तो उसकी सुन्दरता किस काम की है? इसलिए बाह्य सौन्दर्य क्षणिक है तो आन्तरिक सौन्दर्य स्थायी होता है। इसी भाँति दलित साहित्य गोरे मुखडे वाली आकर्षक नयन–नक्श वाली गर्वित या फुहड स्त्री नहीं है। वह सामान्य रंग–रूप वाली सुघड, सुशील औरत है जो सबकी सेवा, मान–सम्मान करती है। साथ में परिवार को खुशी से भरकर पुष्प की तरह खिली रहती है।

'अब्राह्मणी साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र' नामक ग्रन्थ लिखकर सबसे पहले शरद पाटिल ने कहा है कि– "प्रतिकान्ति के साहित्य के पास सौन्दर्य शास्त्र का हथियार है तो विद्रोही के पास यह क्यों नहीं है? इस पर विचार करना चाहिए।'' दलितेतर साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र 'अनन्द' पर आधारित है तो दलित साहित्य का पीडा, व्यथा या वेदना पर। दलित वेदना और विद्रोह पढते समय पाठक व्याकुल या क्रोधित होता है, क्योंकि सौन्दर्य पर विचार करते समय पारम्पारिक साहित्य की

रसिक वृत्ति और दलित साहित्य की 'दलित चेतना' का कोई ताल मेल नहीं बैठता। यह एक क्रान्तिकारी मानसिकता है। न्याय तथा सत्य ही दलित साहित्य के सौंदर्य शास्त्र के विशेष तत्व मानते हुए कन्नड़ के दलित लेखक डॉ. मोगली गणेश लिखते हैं कि–'दलित साहित्य के सौंदर्य शास्त्र में भक्ति रस नहीं और न ही अन्ध विश्वास की कोई आराधना है। यह वर्ण–जाति व्यवस्था तथा अन्यान्य असत्य के विरुद्ध आवाज उठाने वाला शास्त्र है।' इसलिए यह आनन्द पर आधारित न होकर स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व और न्याय इसके उतुंग शिखर है। इस तरह दलित रचनाकारों ने सौन्दर्य की कल्पना को बदलकर एक नया परिवर्तन लाना उचित समझा है ।

दलित सौन्दर्य शास्त्र को लेकर ज्योतिबा फूले ने सदियों से चली आ रही अस्पृश्यता, अन्याय, अत्याचार और गुलामी के पीछे शिक्षा का अभाव ही समझा है। इसलिए उन्होंने लिखा है कि

"विद्या बिना मति गयी, मति बिना नीति गयी,

नीति बिना गति गयी, गति बिना वित्त गया,

वित्त बिना शूद्र लड़खड़ाये इतने अनर्थ एक अविद्या ने किया ।"

'बहुजन–सुखाय, बहुजन हिताय' यह डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर जी के विचार का मुख्य ध्येय है। विचार मानव को विचार स्वातंत्र्य की दीक्षा तथा मानवीय मूल्यों की रक्षा करने का संकल्प देता है। इस तरह दुख–दर्द या वेदना का एहसास कराकर, दलित साहित्यकारों की संवेदना को जगाना दलित साहित्य का प्राणभूत सौन्दर्य है। नये सौन्दर्यशास्त्र के बारे में उन्होंने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है–"पुराने मूल्यों की जवाबदारी का कर्तव्य हमारे कंधों पर है। दलित लेखक कोई अधिनायक या उपदेशक नहीं है। उसको दलित के साथ घुल–मिल जाना चाहिए। दलित नजरिये के बल पर एक विशिष्ट सौन्दर्यशास्त्र बनने की पूरी संभावना है।" ऐसे ही महान वैचारिकता पर आधारित है दलित साहित्य का सौदर्याशास्त्र। यह परलौकिकता, शाश्वतता, वेदों के अपौरुषेय और निष्काम कर्म में कोई विश्वास नहीं रखता। दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र का वैचारिक आधार प्रगतिवाद और वैज्ञानिकता है। इसका केन्द्र बिन्दु मानव है। इसलिए वह मनुष्य के दुख–दर्द उसके संघर्ष और जिजीविषा तथा उसकी मुक्ति और उत्कर्ष को सौन्दर्य की कसौटी बनाता है। दलित सौदर्यशास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता मनुष्य की सर्वोपरी सत्ता और हिन्दुत्व से दलित समाज की मुक्ति का आह्वान है। इसलिए दलित सौन्दर्यशास्त्र का रूप विधान अन्य विधानों से अलग है।

आत्मकथा ही एक ऐसी विधा है जिसके माध्यम से दलित सौन्दर्य का रूप स्पष्ट झलकता है। इसलिए इस विधा का महत्वपूर्ण स्थान है। दलित साहित्यकारों ने भी इसी विधा के माध्यम से दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। दलित आत्मकथाओं की परम्परा में 'जूठन' एक श्रेष्ट आत्मकथा है। इसमें ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलित जाति के जीवन क्रम की विसंगति, तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को चित्रित किया है। दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र में दलित समाज की पीडा, आक्रोश तथा यथार्थ की दहकती सच्चाई इसमें छिपी हुई है।

प्रस्तुत आत्मकथा में वाल्मीकि ने दलित समाज की उन सच्चाईयों को भी कुरेदने का प्रयास किया है जो अश्लीलता का बयान करती है । बस्ती में औरतें, जवान लडकियाँ, बडी–बूढी यहाँ तक कि नयी नवेली दुल्हनें भी इस तरह डब्बों वाली के किनारे खुले में टट्टी फरागत बैठ जाती है। रात के अंधेरे में ही नहीं बकि दिन के उजाले में भी पर्दों में रहने वाली त्यागी महिलाएँ घूंघट काढे, दुशाले ओढे इस सार्वजनिक खुले शौचालय में निवृत्ति पाती हैं। जिस बस्ती में रहते हैं वहाँ पर ऐसी दुर्गंध है कि दम घुटने लगती, तंग गलियों में घूमते सुअर, नंग–धडंग बच्चे, कुत्ते, रोजमर्रा के झगडे ऐसे वातावरण में वाल्मीकि का जन्म हुआ और इसी में

बचपन बिताया है। भारत जैसे महान देश के प्रत्येक दलित बस्तियों की यही सच्चाई है, चाहे वो गांव हो या शहर। मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने अपने पिंजरे' और सूरज पाल चौहान की 'तिरस्कृत' आदि में भी यह देखा जा सकता है। 'दोहरा अभिशाप' में कौशल्या बैसन्त्री ने भी इस सच्चाई का जिक्र करते हुए कहा है कि–'वहां की गंदगी, झोपड़ी में रहने वाले लोग, नंग–धडंग बच्चे, पुराने कपड़ों में अपना आधा बदन ढककर पड़ी मां और चिथडों में लिपटा उसका शिशु, खुले में टट्टी करते बच्चे, वातावरण में फैली बदबू से कमल ने अपनी नाक पर रूमाल रख लिया था।' इस दलित बस्तियों का पाखाना साफ करने जमादार आते थे, उनके काम करते समय चारों ओर बदबू फैल जाती है। एक दिन लेखिका ने भी इसी तरह नाक पर रूमाल रखते देखकर जमादार ने कहा था कि–'टट्टी करती हो तब बदबू नहीं आती है क्या? तुम लोग अपने मां– बाप या बीमार की टट्टी–पेशाब से भी नाक सिकोड़ते हो और हमे देखो,पेट की खातिर ऐसा काम करते हैं।' यहाँ अश्लीलता का वर्णन करते हुए लेखकों ने दरिद्रता में सौन्दर्य को दिखाने का प्रयास किया है।

मनुवादी मानसिकता किस तरह जाति के नाम पर स्कूल में दलित बच्चों पर अत्याचार करते हैं, इसे दलित आत्मकथाओं में देखने को मिलता है। निम्न जाति होने के कारण कक्षा में पढाने के बजाए स्कूल के आंगन में झाड़ू लगवाते। कभी कक्षा में बैठे तो हेडमास्टर क्रोधित होकर उनके गले को दबोच लेते हैं। इस शोषण, पीडा तथा अत्याचार के खिलाफ कोई आवाज नहीं उठाता था। इस संदर्भ को याद करते हुए लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि जी कहते हैं कि–'दूसरे दिन स्कूल पहुंचा। जाते ही हेडमास्टर ने फिर से झाड़ू के काम पर लगा दिया। पूरे दिन झाड़ू देता रहा। मन में एक तसल्ली थी कि कल से कक्षा में बैठ जाऊंगा। तीसरे दिन मैं कक्षा में जाकर चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़ सुनाई पड़ी, 'अबे, ओ चूहडे के मादरचोद कहां घुस गया....अपनी मां....'उनकी दहाड़ सुनकर मैं थर–थर कांपने लगा था। एक त्यागी (सवर्ण) लड़के ने चिल्लाकर कहा 'मास्साब, वो बैट्ठा है कोणे में।' हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उंगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा के बाहर खींचकर उन्होंने मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले, 'जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू... नहीं तो गांड में मिर्ची डाल के स्कूल से बाहर काढ दूंगा।' उस समय यहां तक कि सरकारी स्कूलों में दलित बच्चों को जाना भी निषेध था। इसलिए उन्होंने स्कूल के बाहर रहकर अपनी पढ़ाई की थी। "जब भी कोई आदर्श गुरु की बत करता है तो मुझे ये तमाम शिक्षक याद आ जाते है जो माँ–बहन को गालियाँ देते थे। सुन्दर लड़कों के गाल सहलाते थे और उन्हें अपने घर बुलाकर उनसे बाहियातपन करते थे।" प्रस्तुत आत्मकथा में लेखक ने यहाँ सौन्दर्य का मूल्य पीडा, वेदना और आक्रोश में व्यक्त किया है जो पाठक पढते ही बेचैन हो जाए। इस तरह 'जूठन' में दलित सौन्दर्य का चित्रण मिलता है।

हिन्दू धर्म में शिक्षा के क्षेत्र को पवित्र माना गया है, परन्तु यहां शिक्षक एक–दूसरे बच्चों के बीच भाई–चारा स्थापित करने के बजाय जाति का भेद–भाव अधिक किया करते है। यहां दलित बच्चों को जाति का संबोधन करके पूरे समूह के सामने अपमानित किया जाता है। 'अपने–अपने पिंजरे' के भाग एक में अपने बचपन को याद करते हुए लेखक ने कहा है कि–'अध्यापक हमारे नाम लेकर कम बुलाते थे, बात–बात में चमार दरबज्जे वाले कहकर संबोधन किया करते थे।' फिर कहते हैं कि–'अबे तुमसे पढ़ने के लिए कौन कहता है। बस जूते–चप्पल बनाओं और आराम से रहो। चले आते ससरे न जाने कहां–कहां से।' सूरजपाल चौहान जब अपने मित्र अनुपम के घर गया था तो देखा कि उसके परिवार में हमेशा दलित और पिछड़े समाज की चर्चा

चलती थी। अनुपम के माता–पिता कहते कि–'साले चुहडे–चमार पढ़ लिखकर आगे बढ़ते जा रहे हैं, जगजीवन राम चमार को देखो– रक्षा मंत्री के पद तक पहुंच गया।' उनकी बातें सुनकर मुझे बहुत बुरा लगता। कई बार मैंने उनकी बातों का विरोध भी किया था, लेकिन वे सभी मुझे एक स्वर में चुप कर देतेथे' चौहान तू इन चुहडे–चमारों की बातें सुनकर क्यों बौखला जाता है? तू तो ठाकुर है.....'मैं उनकी बातें सुनकर मौनव्रत धारण कर लेता था।' सवर्ण अपने घर में कुत्ते–बिल्ली, गाय–भैंस को छूने से छुआछूत नहीं मानते, परन्तु चुहडे का स्पर्श उनके लिए पाला–पड़ने के समान है। इस तरह दलित आत्मकथाओं में पीडा, वेदना दुःख–दर्द एवं शोषण के प्रति विद्रोह द्वारा दलित का सौन्दर्य शास्त्र सबके सामने उभरता हुआ दिखाई देता है।

सदियों से दलित समाज गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ था। उन्हें इस बात की थोड़ी सी भी सुध नहीं थी कि वे गुलामी कर रहे हैं। इसलिए जूठन मिलना भी अपना भाग्य समझ बैठे हैं। 'जूठन' आत्मकथा में जब वाल्मिकि जी की मां सुखदेव से एक पत्तल अछूता खाना देने को कहती हैं तो वह जूठी पत्तलों से भरे टोकरे की तरफ इशारा करते हुए कहता है कि–'टोकरे भर तो जूठन ले जा रही है....ऊपर से जाकते के लिए खाणा मांग री है.....अपणी औकात में रह चूहडी! उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।' इस संदर्भ को लेकर वाल्मिकिजी कहते हैं कि–"हम दिन भर मर–खप काम करते है, बदले में जूठन खाने के लिए मिलता है। फिर भी कोई शिकायत नहीं करता। हमें कोई शर्मिंदगी नहीं है न पश्चाताप। परन्तु कभी–कभी ऐसा लगता है कि हमारे नसीब में कभी अच्छा खाना है कि नहीं।'' ऐसी घटनाएं प्रत्येक दलित समाज में देखने को मिलती है।

'तिरस्कृत' में सूरजपाल चौहान जी राधे–लोधा के यहां शादी के संदर्भ को लेकर लिखते हैं कि–'मैं बैठा–बैठा सोच रहा था कि राधे मुझे और मेरी मां को पत्तलों पर खाना परोसकर देने को कहेगा, लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। मैं खाना खाते बारातियों को टुकुर–टुकुर देखे जा रहा था। मेरे मुंह से जैसे लार टपकने वाली थी। मैं रह–रहकर मां की ओर देखता और मां बिना कुछ कहे मेरे सिर पर हाथ फेरे जा रही थी। मैं ने मां से कहा–'जी–जी,ये हमें खाए बे, कू नाय देंगे।' दिंगे, नैक दर रूक जा। मां ने मुझे तसल्ली देते हुए कहा था।' एक आदमी झूठा लेकर आते हुए देखकर मां ने डंडा लेकर तैयार रहने के लिए कहा था, परन्तु मैं तैयार नहीं था और दही से भरी मटकी में एक कुत्ता मुंह डालते देखकर डंडा फेंक मारा। डंडा कुत्ते पर लगने के बजाये मटकी पर जा लगा। अब जूठन दही की मटकी फूट चुकी थी। लेखक मटकी के पास रूआंसा खड़ा–खडा सोच रहा था कि मां देखेगी तो क्या करेगी? 'मां की आंखों में आंसू थे कितनी मेहनत की थी उसने जूठा दही इकट्ठा करने में, उसने अपनी धोती के पल्ले से आंखों से आंसू पोछते हुए अब घर चलने को कहा।' यहां दलितों की दयनीय स्थिति में उनकी व्यथा में सौंदर्य उभर कर आता है। इनको जूठन भी नसीब नहीं होता क्योंकि कुत्ते – बिल्ली उसे छिन लेते हैं। यहां एक यथार्थ सौंदर्य शास्त्र का उल्लेख किया गया है। गुलाम हर किसी के लिए गुलाम ही होता है हिन्दू हो या मुसलमान। उसका शोषण या प्रताड़ित करने में कोई पीछे मुड़कर नहीं देखता। शादी–ब्याहों में कुत्ते, सुअर जैसे जानवर को जूठन देना लोग पुण्य समझते हैं किन्तु दिन रात गुलामी करने वाले दलित को जूठन मिले यह भी उसे गंवारा नहीं। यहाँ मुसलमानों द्वारा दलित का होने वाले शोषण को मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' भाग एक में बताने का प्रयास किया है। यहां संवाद की ऐसी संरचना की गयी है जो दलित सौन्दर्य शास्त्र को रसानुभूति बना देता है। लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि जी कहते हैं कि–"साहित्य में नर्क की सिर्फ कल्पना है। हमारे लिए बरसात के दिन किसी नारकीय जीवन से कम नहीं थे। हमने इसे साकार रूप में जीते–जी भोगा है। ग्राम्य जीवन की यह

दारूण व्यथा हिन्दी के महाकवियों को छू भी नहीं सकी। कितनी वीभत्स सच्चाई है यह।''

प्रमुख हिन्दी आत्मकथाओं के अलावा मराठी से हिन्दी में अनुदित दलित आत्मकथाएं भी प्रसिद्ध है। उन दलित आत्मकथाओं में दया पवार की 'अछूत' हिन्दी में अनुदित प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय आत्मकथा है। इसमें दलित सौंदर्य कूट–कूटकर भरा है। बम्बई के एक महार मुहल्ला या बस्ती के दयनीय चित्रण करते हुए दया पंवार लिखते हैं कि–'महार लोगों के मकानों की व्यवस्था बड़ी घटिया थी। एक–एक दडबे में दो–तीन ऊपर किरायेदार। बीच में लकड़ियों का पार्टीशन। लकड़ी के इन्हीं संदूकों में उनका सारा संसार।' बंबई के झोपड़पट्टी के आस–पास महरों का मुहल्ला, चोर बाजार, यहूदियों का क्लब और वेश्याओं की बस्ती भी थी। पवार ने यहां उनकी जहालत भरी जिंदगी, शराब पीने की लत और अन्यान्य आदि गंदी आदतों को विस्तार से बताया है। इस संदर्भ में डॉ. किशोरी लाल लिखते हैं कि–'इस कृति में समाज के हाशिए पर धकेल दिए गए महारों के जीवन का चित्र इस तीव्रता, सच्चाई और बेबसी के साथ उभरा है कि पीडा की परिभाषा ही बदल जाती है। मानवता चीत्कार उठती है। क्या ये भी इन्सान हैं? पशुओं तुल्य नरकीय यन्त्रणा सहते, मृत पशु का मांस खाने को विवश, भूख, बेरोजगारी, लाचारी को ओढ़े हुए, दुत्कारे बेबस मानव। कौन–सी दुनियां के जीव हैं ये मानवेतर स्थितियों में रहने को बाध्य महारों के छोटे सुख बड़े दुःख, दब्बू नियतिवादी चरित्र, फिर भी दुर्लभ जिजीविषा लिए हए चरित्र इस कृति में है, जिनको लेखक ने अपनी शैली की साफगोई के रूप में जीवन्त किया है।'

'छोरा कोल्हाटी का' डॉ. किशोर शान्ताबाई काले की हिंदी में अनुदित आत्मकथा है। यह मूल मराठी की दलित आत्मकथा है, जो कोल्हाटी समाज के यथार्थ को दर्शाती है। इस समाज की स्त्री और बच्चों के त्रासदी, पीड़ा, शोषण आदि की ऐसी तस्वीरें पेश करती है, जो सभ्य समाज के घिनौने चेहरे को दर्शाती है। डॉ. किशोरी लाल रैगर कहते हैं कि–'यह आत्मकथा समाज द्वारा नकारे मां–बाप के प्रेम से वंचित, गरीबी व लाचारी से पीड़ित कोल्हाटी समाज की नाचने वाली की औलाद की करुण गाथा है, जिसे पैदा होते ही नाजायज औलाद का प्रमाण–पत्र मिला। इस समाज में स्त्री का जन्म लेना अभिशाप नहीं वरदान है। यहां स्त्री की डोली नहीं उठती, पुरुष ही स्त्री के घर रहने आता है। नाच–गाने के दौरान जो पुरुष ऊंची बोलियां लगाता है, वह नर्तकी उसी की हो जाती है।' ऐसी ही एक और मराठी आत्मकथा है 'अक्करमाशी'। यह शरण कुमार लिंबाले की बहुत ही प्रसिद्ध आत्मकथा है। मराठी में 'अक्करमाशी' का अर्थ होता है–दासी या रखैल से उत्पन्न नाजायज औलाद, जिसे अपनी मां का पता तो होता है,पर दरिन्दा बाप कौन है, वह नहीं जानता? इस त्रासदी को लेकर लेखक अपने आप से प्रश्न करते हैं कि–'अपने अस्तित्व की पहचान के लिए नीग्रो के सम्मुख प्रश्न था– मैं कौन हूं? लेखक का भी सवाल है– वह कौन है? और इसके उत्तर में जो शब्द निर्मित होते हैं, वे भी सवाल ही बनकर रह जाते हैं। मेरी मां महार तो बाप लिंगायत, मां झुग्गी– झोपड़ी में तो बाप बड़ी–हवेली में, बाप जमींदार तो मां भूमिहीन और मैं 'अक्करमाशी'। प्रस्तुत आत्मकथा में गरीबी, शोषण और अत्याचार, घृणा, अपमान, दुःख, आक्रोश तथा विद्रोह की सच्चाई के सौंदर्य मुखरित हुआ है। अस्मिता और अस्तित्व का संघर्ष करते हुए लेखक कहते हैं कि–'गुमशुदा व्यक्तित्व लिए जीने वाले मेरे अस्तित्व को 'जारज' कहकर सतत अपमानित किया गया है। ब्राह्मणों से लेकर शूद्रों तक सभी अपने खानदानी अभिमान और खानदानी 'अस्मिता' लिये जीते हैं, परन्तु यहां मेरी अस्मिता पर ही बलात्कार हुआ हैय बलात्कारित स्त्री की तरह मेरा यह जीवन। लेखक हमेशा अपने अवैध पिता का उपनाम पाने के लिए संघर्ष करता है, फिर उसी उपनाम से जाती छिपाता घूमता

रहता है।

उपरोक्त के अलावा दलित सौंदर्य शास्त्र का वर्णन प्रस्तुत करने वाली आत्मकथाओं में डॉ. डी.आर. जाटव की 'मेरा सफर मेरी मंजिल', प्रो. श्यामलाल की 'एक भंगी कुलपति की अनकही कहानी', भगवान दास की 'मैं भंगी हूं', रूपनारायण सोनकर की 'नागफनी', जयप्रकाश कर्दम की 'मेरी जात', रमाशंकर आर्य की 'घुटन', नवेन्द्र की 'इंसान से ईश्वर तक', प्रो. तुलसीराम की 'मुर्दहिया' एवं डॉ. धर्मवीर की 'मेरी पत्नी और भेड़िया' आदि प्रसिद्ध हैं। गैर–दलित आत्मकथाएं प्रसिद्ध व्यक्तियों द्वारा अपने पारिवारिक जीवन को ही आधार बनाकर लिखी गयी या लिखी जाती है और लिखी जा रही है। अतः ये आत्मकथाएं एकांगी तथा व्यक्ति विशेष तक ही सीमित रहती है। दलित आत्मकथाएं व्यक्तिगत न होकर संपूर्ण दलित समाज के परिवेश को साथ में लेकर चलती हैं। इस में पूरे समाज का चित्र उपस्थित रहता है। दलित आत्मकथाकार दलित जीवन की पीड़ाओं, यातनाओं, उपेक्षाओं एवं दुखों को सच्चे और प्रामाणिक जीवनानुभूति को ईमानदारी के साथ अभिव्यक्त करता है। इसी के परिणामस्वरूप आज हमारे बीच है नया दलित सौंदर्य शास्त्र।

निष्कर्षत : उपरोक्त दलित आत्मकथाओं में दलित सौन्दर्य शास्त्र का मूल्य बहुत ही सटीक ढंग से व्यक्त हुआ है। ये आत्मकथाएं दलित लेखकों के जीवन संघर्ष एवं पीड़ाएं समान रूप से बयान करती है। उनमें जातिय उत्पीड़न की मार्मिक घटनाएं यथार्थ की सच्चाइयों को दर्शाती है। शादी–ब्याह में पत्तलों को इकट्ठा करना घर ले जाकर खाना और जाति के नाम पर सवर्णों द्वारा किये जाने वाले अत्याचार, शोषण, पीडा, वेदना, दुःख के प्रति विद्रोह की भावना सच्चे अर्थों में दलित सौन्दर्यशास्त्र की मूल संवेदना है। अशिक्षा, अंधविश्वास, रूढियों और ओझा के झाड–फूंक आदि का वर्णन भी सौन्दर्य की पूर्ति के लिए सहयोगी है।

अंततः यह दलितों के साथ घटित घटनाओं को तथा झेले हुए अत्याचारों के पीड़ाओं को दर्शाने वाला सौंदर्य शास्त्र है। इसे पाठकों के सामने रखकर सवर्णों में स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व एवं भाईचारे की भावना स्थापित करना ये दलित सौन्दर्य शास्त्र की मूल गर्भ

डॉ. तारू एस. पवार
उपाचार्य एवं विभागाध्यक्ष
हिन्दी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
केरल केन्द्रीय विश्वविद्यालय, पेरिया (पो.)
कासरगोड (जिला), केरल–671320
मोबा. 9844374432

संदर्भः–

1. सत्यदेव मिश्र – पाश्चात्य काव्यशास्त्र : अधुनातन संदर्भ – पृ. सं.– 210.
2. तनूजा तिवारी – प्रगतिशील कविता में सौंदर्य चिन्तन– पृ. सं. – 5
3. डॉ. मोगली गणेश– दलित कथन–पृ.सं.–80
4. धनंजय कीर – महात्मा फुले समग्र वान्गमय – पृ. सं. – 253
5. डॉ. अभय परमार–हिंदी दलित आत्मकथाएं : एक अनुशीलन – पृ. सं. – 50.
6. कौशल्या बैसन्त्री–दोहरा अभिशाप–पृ.सं.–93.
7. वही, पृ.सं.–69.
8. ओमप्रकाश वाल्मीकि – जूठन – पृ. सं. – 15.
9. मोहनदास नैमिशराय– अपने–अपने पिंजरे : भाग–एक–पृ.सं.–76.
10. सूरजपाल चौहान – तिरस्कृत– पृ. सं. – 14.
11. ओमप्रकाश वाल्मीकि– जूठन – पृ. सं. – 21.
12. सूरजपाल चौहान – तिरस्कृत– पृ. सं. – 15.
13. सूरजपाल चौहान – तिरस्कृत– पृ. सं.–17.
14. ओमप्रकाश वाल्मीकि– जूठन – पृ. सं. – 24.
15. दया पवार – अछूत – पृ. सं. –16.
16. डॉ. किशोरी लाल रैगर – कथाक्रम, दलित विशेषांक, नवम्बर 2000,पृ. सं.–112.
17. डॉ. किशोरी लाल रैगर – दलित पीड़ा का मर्मान्तक दस्तावेज दलित आत्मकथाएं, कथाक्रम दलित विशेषांक नव. 2000.
18. शरण कुमार लिंबाले–अक्करमाशी–पृ. सं. – 01.
19. वही, पृ.सं. –8

विक्टोरियन कालीन भारत में शिक्षा

– डॉ. खीमाराम काक

सारांश : राजनैतिक एकता के अभाव एवं शासकों की गलतियों के कारण भारत दीर्घकाल तक विदेशियों के अधीन रहा। मुस्लिम सत्ता के पतन के बाद वर्ष 1757 से 1947 भारत अंग्रेज उपनिवेशवाद का शिकार रहा। प्रारम्भ में भारत में कम्पनी का शासन रहा जिसके अंतर्गत शिक्षा का कोई विशेष प्रयास नहीं हुआ, बल्कि भारतीय शिक्षा व्यवस्था को नीचा दिखाने और यूरोपियन शिक्षा प्रणाली को उन्नत बताने की कोशिश की गई। कम्पनी शासन के समाप्ति उपरान्त भारत की बागडौर सीधे महारानी विक्टोरिया के नियंत्रण में आने से भारत में एक नये दौर की शुरुआत हुई। इस दौर में शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रयास तेज हुए और शिक्षा के विकास हेतु कई आयोग एवं समितियाँ बनी जिनकी सिफारिशों को लागू करने की कोशिश की गई। महारानी विक्टोरिया का शासन काल "स्वर्णकाल" कहलाता है। इस शोध पत्र में महारानी विक्टोरिया के शासन काल के दौरान हुए विकास का पुस्तकों, दस्तावेजों, रिपोर्टो एवं पत्र–पत्रिकाओं के आधार पर गुणात्मक विश्लेषण कर तथ्यात्मक जानकारी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तावना : अंग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना 31 दिसम्बर 1600 के दिन एक शाही आदेश पत्र (रॉयल चार्टर) के द्वारा, लन्दन के उन सौदागरों की एक संयुक्त स्टॉक कंपनी के रूप में हुई थी, जो पूरब के व्यापार में डचों की प्रतियोगिता का मुकाबला करने के लिए एक हुए थे। इस कम्पनी को पूरब के साथ इंग्लैंड के समस्त व्यापार का एकाधिकार दे दिया गया और वणिकवादी विचारों के वर्चस्व वाले उस काल में भी अपने व्यापार का खर्च उठाने के लिए कीमती धातुओं (bullion) को देश के बाहर ले जाने की अनुमति दे दी गई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लगभग 1756–57 से भारत पर अपना राजनीतिक प्रभुत्त्व स्थापित करने की कोशिशें शुरू कर दी। इसकी शुरुआत उन्होंने बंगाल में प्लासी की लड़ाई (1757) से शुरू की, इसके बाद धीरे–धीरे सम्पूर्ण देश में फैलते गए। वर्ष 1858 तक उन्होंने देश के बहुत बड़े हिस्से पर प्रत्यक्ष शासन किया और कुछ रियासतों पर संधियों आदि के जरिए कंपनी का अप्रत्यक्ष नियंत्रण भी था। 1858 में कम्पनी के शासन का अन्त हुआ और अब सम्पूर्ण भारत ब्रिटिश संसद के नियंत्रण में आ गया। वर्ष 1837 ई. में मात्र अठारह वर्ष की उम्र में ही विक्टोरिया राजगद्दी पर आसीन हो गई थीं। 1857 के राष्ट्रीय गदर के बाद भारत का शासन प्रबन्ध ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से लेकर ब्रिटिश राजसत्ता को सौंप दिया गया। वर्ष 1858 से लेकर 1877 तक अप्रत्यक्ष रूप से महारानी विक्टोरिया ही भारत की सम्राज्ञी थी। वर्ष 1877 ई. में विधिवत् रूप से इन्हें भारत की सम्राज्ञी घोषित किया गया जो कि अपने स्वर्गवास 1901 ई. तक सम्राज्ञी बनी रही।

भारत में कम्पनी शासन के दौरान शिक्षा को लेकर समय–समय पर महत्वपूर्ण कार्य हुए जिसमे 1793 व 1813 का चार्टर, मैकॉले मिनट्स, अधोमुखी सिद्धांत एवं एडम रिपोर्ट इत्यादि ने शिक्षा व्यवस्था पर प्रभाव डाला। कम्पनी शासन की समाप्ति उपरान्त महारानी विक्टोरिया के काल में लार्ड डलहौजी के समय 1854 ई. में चार्ल्स वुड के नेतृत्त्व में बने आयोग जो 'एजुकेशन डिस्पेच' के नाम से जाना गया की सिफारिशों को लागू करने के गंभीर प्रयास प्रारंभ हुए।

लार्ड ऐलेनबरा का आदेश पत्र– 28 अप्रैल 1858 को 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' के प्रधान ऐलेनबरा ने एक आदेश पत्र जारी किया। ऐलेनबरा ने 'वुड के घोषणा–पत्र' द्वारा प्रतिपादित शिक्षा नीति को 1857 के विद्रोह का कारण ठहराया। अतः उसने एक त्रासपूर्ण आदेश पत्र लेखबद्ध करके 'घोषणा पत्र' की सभी

सिफारिशों के विरुद्ध प्रस्ताव दिए। सौभाग्यवश, कम्पनी के शासन का अन्त हो गया और ऐलेनबरा के प्रस्ताव कागज पर ही लिखे रह गए।

स्टेनले का आदेश पत्र – भारत की शासन सत्ता ब्रिटिश संसद के हाथों में पहुँच जाने के पश्चात् 'भारत–मंत्री' के नवीन पद का सृजन हुआ और सर्वप्रथम लार्ड स्टेनले को इस पद पर नियुक्त किया गया। उसने 1859 में भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में एक नया आज्ञा–पत्र जारी किया, जो 'स्टेनले का आदेश पत्र' कहलाता है। इसमें वुड की सभी सिफारिशों का समर्थन किया गया। इस आदेश पत्र द्वारा सरकार ने शिक्षा के उत्तरदायित्त्व को आंशिक रूप में प्रांतीय सरकारों को हस्तांतरित कर दिया। 1871 में लार्ड मेयों ने शिक्षा विभागों को प्रांतीय सरकारों के अधीन कर दिया और उन्हें शिक्षा सम्बन्धी सभी व्यय करने का अधिकार दे दिया। 1887 में लार्ड लिंटन ने प्रांतीय सरकारों को शिक्षा के विषय में और अधिक व्यापक अधिकार प्रदान कर दिए। इनके अनुसार प्रांतीय सरकारे कानून एवं आबकारी विभागों की आय का कुछ भाग शिक्षा पर व्यय कर सकती थी।

विक्टिरिया काल में (1858–1902) तक के काल में होने वाली प्रगति को नूरुल्लाह एवं नायक ने निम्नलिखित बिन्दुओं के अंतर्गत क्रमिक दो अध्यायों – पंचम एवं षष्ठ में विस्तार से व्याख्या की है :–

1. शिक्षा विभागों का संगठन :– वर्ष 1854 के वुड के घोषणा पत्र ने शिक्षा विभागों की प्रांतीय स्तर पर स्थापना की अनुशंसा की थी। अंतः जैसे–जैसे प्रशानिक सुविधा की दृष्टि से नये–नये प्रान्तों का जन्म हुआ, वहां पर शिक्षा विभागों की स्थापना की जाती रही। वर्ष 1856 तक लगभग सभी प्रान्तों में इनकी स्थापना हो चुकी थी। इन प्रांतीय शिक्षा विभागों ने शिक्षा की प्रगति में सकारात्मक भूमिका का निर्वाह किया। अब तक यह विभाग प्रान्त में शिक्षा का संगठन, प्रबंधन तथा वार्षिक व्ययों का लेखा–जोखा रखते थे। वे सरकारी अनुदानों को प्राप्त करने वाले विद्यालयों का निरीक्षण भी करते थे। परन्तु शिक्षा के इस व्यापक सरकारीकरण से कुछ दोष भी उजागर होने लगे। उदाहरणार्थ–धनराशि का अभाव, यूरोपियन अधिकारियों की स्वाभाविक अरुचि एवं प्रेरणा। क्योंकि उनका वेतन तथा सुविधाएँ अति निम्न स्तर की थी, फलस्वरूप निरीक्षकों का अभाव, अंग्रेजी की तीव्र मांग के कारण अधिकाधिक स्कूलों की आवश्यकता, व्यक्तिगत विद्यालयों पर सरकारी अंकुश में ढील आदि ऐसे ही बाधक तत्त्व थे, जो शिक्षा के कार्य में अड़चन बन गए थे।

2. शिक्षा साधनों का भारतीयकरण – वर्ष 1854 के वुड घोषणा पत्र के सन्दर्भ में मिशनरियों ने अपना सुंदर सपना संजोया था कि जैसे–जैसे इस घोषणा–पत्र में उद्धृत शिक्षा नीति के अनुरूप कम्पनी अपना हाथ शिक्षा से धीरे–धीरे खींच लेगी और शिक्षा का सम्पूर्ण भार व्यक्तिगत प्रयासों तक ही सिमित रह जायेगा। किन्तु 1857 के भारतीय स्वतंत्रता संग्राम ने मिशनरियों के इस स्वर्णिम स्वप्न को धूल में मिला दिया. क्योंकि अब ब्रिटिश पार्लियामेंट शिक्षा को 'धार्मिक हस्तक्षेप' से दूर रखकर 'धार्मिक तटस्थता' की नीति को अंतिम रूप प्रदान कर चुकी थी।

उक्त परिस्थितियों में भारतीयों को भी व्यक्तिगत रूप से शिक्षा प्रसार का समुचित वातावरण प्राप्त हो चुका था। भारतीयों के मन–मस्तिष्क में शिक्षा का महत्त्व घर कर चुका था। ये शिक्षा द्वारा अपने देशवासियों को अंध–विश्वास एवं अज्ञानता के घेरे से बाहर निकालकर राष्ट्रीय चेतना का शंखनाद करने को उत्सुक थे। यह अंग्रजी शिक्षा के बीज से अंकुरित भारतीय शिक्षा की प्रतिस्पर्धात्मक भावना थी। यही कारण है कि वर्ष 1880 तक देश में एक भारतीय राजनैतिक जागरूकता की पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था।

"The motives that led to this expansion of Indian private enterprises were mainly patriotic- By about 1880, there was a wave of social, religious and political reforms in Indian a veritable beginning of a renaissance in Indian National life. The leaders of this movement was inspired by a faith in the ideal of

building up a great nation in India and their ultimate objects were social and political" - Nurullah and Naik

वर्ष 1881–82 में शिक्षा संस्थाओं की जो स्थिति थी, उसे निम्नाकिंत सारणी के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है। जिससे ज्ञात होता है कि भारतीयकरण की तस्वीर में कितना परिवर्तन हो चुका था–

तालिका संख्या :1

क्र.सं.	शिक्षा संस्थाएँ	भारतीय प्रबन्धकों के नेतृत्त्व वाली संस्थाएँ	अन्य प्रबन्धकों द्वारा चलायी जाने वाली संस्थाएँ
1	कला महाविद्यालय	5	18
2	माध्यमिक विद्यालय	1341	757
3	प्राथमिक विद्यालय	54662	1842
4	व्यवसायिक विद्यालय	10	18
	कुल	66018	2635

source : Nurullah, S. & Naik, J.P.(1964), pg172.

3. सहायता–अनुदान प्रणाली का विकास– चार्ल्स वुड के घोषणा–पत्र में घोषित शिक्षा शर्तो की मान्यता के अनुकूल गैर–सरकारी संस्थाएँ भी सहायता–अनुदान राशि प्राप्त करने का हक रखती थी। इस प्रकार व्यक्तिगत शिक्षा संस्थाएँ आर्थिक बोझ से उन्मुक्त होने लगी। जिससे वे स्वतन्त्र रूप से शर्तो के अनुरूप अपने यहाँ सुविधाओं को महत्त्व प्रदान करने की प्रतिस्पर्धा में जुट गई। किन्तु इस सहायता अनुदान से तात्कालिक शिक्षा को यथेष्ठ लाभ प्राप्त नहीं हो सका था। इसके मुख्य कारण थे (i) अल्प एवं अपर्याप्त अनुदान। (ii) स्वीकृत अनुदान का अनियमित आवंटन। (iii) मिशनरियों एवं उनकी संस्थाओं को प्राथमिकता। (iv) अनुदान प्रदान करने में संकीर्ण मानसिकताएँ एवं व्यक्तिगत स्वार्थो को प्राथमिकता। (v) नियम एवं शर्तो की अनिश्चितता। (vi) गैर सरकारी शिक्षा संस्थाओं के प्रति ईर्ष्या एवं घृणा भाव। (vii) गैर सरकारी संस्थाओं के प्रबंधकों का तिरस्कार।

इन सभी मुश्किलों का निराकरण वर्ष 1882 के भारतीय शिक्षा आयोग में करने का प्रयास किया था। उन्होंने इस संदर्भ में जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था, वह निम्नलिखित है–

"Institutions under private managers can not be successful unless they are frankly accepted as an essential part of the general scheme of education-With a view to securing the co&operation of Government and non-government institutions the managers of the latter be consulted on matters of general educational interests, and that their students be admitted on equal terms to competition for certificates, Scholarships and other public distinction." (Nurullah, S. & Naik, J-P. (1964), pg175)

4. शिक्षा का प्रसार – विश्वविद्यालयों की स्थापना तथा महाविद्यालयी शिक्षा एवं माध्यमिक शिक्षा का प्रसार निम्नलिखित प्रकार से हुआ–

(i) **विश्वविद्यालय शिक्षा**–वुड घोषणा पत्र–1854 में घोषित नीतियों के अनुरूप कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने 19 जुलाई 1854 को कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में विश्वविद्यालय की स्थापना का कार्य प्रारंभ कर दिया, जो कि 1857 में पूरा हो गया। इसी समय विश्वविद्यालय अधिनियम भी पारित कर दिया गया। इन विश्वविद्यालयों का संगठन लन्दन विश्वविद्यालय की तर्ज पर ही किया गया था। अतः इनमे कुलपति, उप–कुलपति, पदेन सदस्य तथा अन्य सम्मानीय सदस्यों की व्यवस्था की गई थी। विश्वविद्यालय का प्रशासन कार्यकारिणी द्वारा किया जाता था। इसे सीनेट या सिंडीकेट नाम दिया गया था। कुलपति प्रान्त का गवर्नर ही होता था।

वर्ष 1882 में पुनः चौथे विश्वविद्यालय की नीवं पंजाब में रखी गई तथा इसे पंजाब विश्वविद्यालय कहा गया। यह विश्वविद्यालय उपर्युक्त तीनों विश्वविद्यालयों से अलग था। उदाहरणार्थ–प्राच्य विद्याओं के अध्ययन की व्यवस्था, संस्कृत–अरबी साहित्य में उपाधियाँ, क्षेत्रीय भाषाओं के विभाग तथा हिन्दू–मुस्लिम कानून सम्बन्धी उपाधियाँ।

वर्ष 1887 के दौर में एक विश्वविद्यालय इलाहाबाद में स्थापित किया गया जिसे यूनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद के नाम से जाना जाता है। इसकी संगठनात्मक व्यवस्था के संदर्भ में आर. नाथन ने लिखा है–

"....it should maintain a staff of professors and even of private teachers, after the pattern of the University of Germany. While recognizing the great value of a university of this type of the Lieutenant Governor considered that, at all events of first, the university should confine its operations to the direction of the methods and aims of instructions, adapting them to the needs circumstances, provisions and predilections of the country, which is gradually recovering its place in the intellectual progress of India. **- R. Nathan**

(ii) **कॉलेज शिक्षा** – उक्त जो भी पांच विश्वविद्यालय भारत में स्थापित किये गये थे। वे केवल सम्बद्ध प्रकार के (Affiliated Type) तथा मात्र परीक्षा लेने वाली संस्थाएँ ही थी। उनमे शिक्षण कार्य प्रायः नहीं होता था। इस कार्य का दायित्त्व महाविद्यालयों को सौंपा गया था। यही कारण था कि इन महाविद्यालयों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। इन कॉलेजों की तीव्र वृद्धि को वर्ष 1857 की पूर्व की स्थिति से वर्ष 1882 तक की तुलनात्मक वृद्धि निम्नाकिंत सारणी में प्रस्तुत की गई है :–

तालिका संख्या : 2

क्र.सं.	प्रान्त	1857 में महविद्यालयों की संख्या	1882 में महविद्यालयों की संख्या
1.	बंगाल	15	27
2.	बम्बई	3	6
3.	नार्थ-वेस्ट प्रान्त	5	11
4.	मद्रास	4	25
5.	पंजाब	-	2
6.	सेन्ट्रल प्रान्त	-	1
	योग	27	72

source : Nurullah, S. & Naik, J.P.(1964), pg.186

वर्ष 1901–1902 में कॉलेज शिक्षा की वृद्धि दर को निम्नलिखित तालिका में प्रस्तुत किया जा रहा है, जो कि संस्थाओ तथा विद्यार्थियों दोनों की तीव्र दर का परिचायक है :–

तालिका संख्या :3

क्र.सं.	शिक्षा संस्थाएँ एवं पाठ्यक्रम	शिक्षा संस्थाओं की संख्या	छात्रों की संख्या
A	आर्ट्स कॉलेज		
(i)	अंग्रेजी	140	17048
(ii)	प्राच्य	5	509
B	प्रोफेशनल कॉलेज		
(i)	कानून	30	2767
(ii)	चिकित्सा	4	1466
(iii)	इंजीनियरिंग	4	865
(iv)	शिक्षक-प्रशिक्षण	5	190
(v)	कृषि	3	70
	योग	191	22915

source : Nurullah, S. & Naik, J.P.(1964), pg.309

"On the whole, therefore, it will be evident that the collegiate education of 1901-2 was predominantly literary education and that even among the professions, the black-coated professions, the lawyer and the doctor were the most popular ones the higher education in India not according to the requirements of the nation but according to the needs of Government and the tastes of the upper classes."

- Nurullah and Naik

(iii) **माध्यमिक शिक्षा** – माध्यमिक शिक्षा का प्रसार भी उच्च शिक्षा के अनुकूल ही हुआ है, यह जितनी अधिक प्रसार की तस्वीर प्रस्तुत करता है उतने ही गंभीर दोषों का दिग्दर्शन।

"The history of secondary education between 1854&1902 is similar to that of collegiate education and shows the same motley picture of eÛpansion on the one hand and the development of serious defects on the other." **- Nurullah and Naik**

इस प्रकार वर्ष 1854 में गवर्नमेंट स्कूलों की संख्या 169 थी, जिसमें 18,345 छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। यहाँ स्कूलों की संख्या वर्ष 1882 में बढ़कर क्रमशः 1363 तथा इनमें छात्रों की संख्या 44,605 हो गई। मिशनरियों के ऊपर 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के उपरान्त अंकुश लगा देने पर भी उनके 680 मिशन स्कूल थे, किन्तु इस समय में भारतीय व्यक्तियों के प्रबन्धन में 1882 के अन्त

तक 1341 स्कूल थे। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा के प्रसार में भारतीयों का योगदान सराहनीय है। माध्यमिक शिक्षा में जो रोग समा चुके थे, वे है– (i) मातृ भाषा की अवहेलना (ii) प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी (iii) पुस्तकीय ज्ञान की वृद्धि (iv) औधोगिक शिक्षा का पूर्ण अभाव आदि।

इन समस्त कठिनाइयों एवं दोषों का ही परिणाम था कि वर्ष 1882 में भारतीय शिक्षा आयोग का गठन किया गया तथा उसने अपनी ठोस संस्तुतियाँ प्रस्तुत की जिसके सुझावानुसार हाईस्कूल की शिक्षा को 'अ–कोर्स' और 'ब–कोर्स' में विभाजित किया गया।

(iv) **प्राथमिक शिक्षा**–वर्ष 1854 से 1902 के मध्य प्राथमिक शिक्षा की अपेक्षाकृत अवहेलना की गई। क्योंकि इसकी प्रसार गति बहुत ही मंद थी। यह विरोधाभास और भी हास्यास्पद लगता है, क्योंकि प्रत्येक सरकारी घोषणा–पत्र इसके विकास के लिए सभी आवश्यक कदम उठाने की नीतियों का निर्माण करते रहे। 1854 में वुड के घोषणा पत्र में ही तथ्य को जोरदार शब्दों में प्रकट किया गया था कि उच्च शिक्षा की बजाय प्राथमिक शिक्षा की भरपूर उन्नति की जाय जिससे कि जन शिक्षा का उचित प्रसार किया जा सके, किन्तु ऐसा नही किया गया। इतना ही नहीं, इसमें जन–शिक्षा प्रसार के लिए अतिरिक्त धनराशि की व्यवस्था पर भी बल दिया गया था। यही बात पुनः वर्ष 1865–66 एवं 1870–71 के शिक्षा सर्वेक्षणों में भी उठायी गई थी। वर्ष 1882 के भारतीय शिक्षा आयोग ने भी प्राथमिक शिक्षा को मजबूती प्रदान करने की संस्तुति इन शब्दों में की थी–

"While every branch of education can justly claim the fostering care of the state] it is desirable] to declare the elementary education of the masses, its provision, extension, and improvement, to be that part of the educational system to which the strenuous effort of the state should now be directed in a still larger measure them here to fore." - Education Commission of India

भारतीय शिक्षा आयोग या हण्टर कमीशन (1882) की नियुक्ति विशेष रूप से प्राथमिक शिक्षा पर विचार करने के लिए की गई थी, लेकिन उसने शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक सुझाव दिए। इस आयोग द्वारा प्राथमिक शिक्षा से उच्च शिक्षा तक में सरकारी और व्यक्तिगत प्रयासों के मिश्रण की बात की गई और भारतीयों को शिक्षा के क्षेत्र में आने के लिए प्रेरित किया गया। इस आयोग ने निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किए–

(i) प्राथमिक शिक्षा का विकास करना आवश्यक है, क्योंकि वर्तमान स्थिति बहुत असन्तोषजनक है। (ii) जिला परिषद् एवं नगरपालिका को यह आदेश दिया जाए कि वे विद्यालयों के लिए एक निश्चित संख्या में धन रखें। (iii) भारतीय भाषा एवं अंग्रेजी भाषा के विद्यालयों का अन्तर समाप्त किया जाए। (iv) प्राथमिक शिक्षा भारतीय भाषाओं में दी जाए। (v) सरकारी विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा बिल्कुल नहीं होनी चाहिए। गैर–सरकारी विद्यालयों में प्रबन्धकों की इच्छानुसार धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है। (vi) स्त्री–शिक्षा की विशेष व्यवस्था की जाए।

तालिका संख्या : 4

1881-82 में प्राथमिक विद्यालयों और उनमें प्रविष्ट विद्यार्थियों की संख्या

प्रान्त/क्षेत्र	विभागीय विद्यालय		सहायता प्राप्त विद्यालय	
	विद्यालयों की संख्या	विद्यार्थियों की संख्या	विद्यालयों की संख्या	विद्यार्थियों की संख्या
मद्रास	1263	46975	13223	313668
बंगाल	28	916	47374	835435
उ.प. सीमांत प्रान्त	जानकारी नहीं है	जानकारी नहीं है	243	15109
पंजाब	जानकारी नहीं है	जानकारी नहीं है	278	14616
मध्य भारत	894	55745	368	18786
असम	7	187	1256	35643

उपर्युक्त तालिका से सपष्ट है कि ज्यादात्तर क्षेत्रों में अनुदान प्राप्त गैर–सरकारी विद्यालयों और उनमें प्रविष्ट विद्यार्थियों की संख्या अधिक थी। शिक्षा के प्रसार के लिए धन भी जनता से जुटाया गया। 1871 तक बंगाल को छोड़कर अन्य सभी प्रान्तों में शिक्षा के लिए स्थानीय कर लगाए गए। किन्तु इन सभी प्रयासों के बावजूद प्राथमिक शिक्षा की गति में कोई परिवर्तन नही हो सका जिसके निम्नाकिंत कारण हो सकते है–(i) अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करने में असफल (ii) प्राथमिक शिक्षा का स्थानीय निकायों को हस्तांरण (iii) भारतीय स्कूलों का तिरस्कार।

'भारतीय शिक्षा आयोग' की सिफारिश के अनुसार प्राथमिक शिक्षा का भार स्थानीय संस्थाओ को सौंप दिया गया। इन संस्थाओ ने 1882 से 1902 तक प्राथमिक शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय को 22 लाख बढ़ा दिया गया, किन्तु सरकार ने केवल 15 लाख बढ़ाया। फलस्वरूप प्राथमिक शिक्षा के विद्यालयों में वृद्धि तो अवश्य हुई, पर उसे संतोषजनक नहीं कहा जा सकता है।

5. शिक्षण सामग्री का पाश्चात्यीकरण–देशी विद्यालयों की पुरानी प्रिंटेड किताबों के उपयोग पर रोक लगा दी गई एवं उन्हें अब नई शिक्षा व्यवस्था एवं पाठ्यक्रम के अनुसार नई पुस्तकें उपयोग में लाने के लिए निर्देशित किया गया। यह सामग्री पश्चिम की शिक्षा व्यवस्था के अनुसार तैयार की गई थी।

6. भारतीय विद्यालयों का तिरस्कार–इस समय बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई थी, एक तरफ सरकार शिक्षा व्यवस्था में सुधार हेतु विद्यालयों को अनुदान के रूप धन उपलब्ध करवा रही थी तो दूसरी तरफ देशी विद्यालयों का तिरस्कार हो रहा था क्योंकि अनुदान केवल सरकारी विद्यालयों को ही दिया जा रहा था। देशी विद्यालयों को किसी प्रकार की सहायता नहीं दी जा रही थी, उन्हें अपने हालात पर छोड़ दिया था।

7. महिला शिक्षा, मुस्लिम शिक्षा, हरिजन एवं आदिम जातियों हेतु शिक्षा का विकास – महिला शिक्षा की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय मिस कारपेंटर को है उनके प्रयास के फलस्वरूप महिला प्रशिक्षण विद्यालयों का भी निर्माण हुआ मुसलमानों की शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार ने विशेष आर्थिक सहायता दी फलस्वरुप शिक्षा का प्रयोग प्रसार होगा फिर भी मुस्लिम शिक्षा का उतना विकास नहीं हो सका जितना हिंदुओं की शिक्षा का हुआ। पिछड़ी जातियों परिजनों आदिवासियों और पहाड़ी जातियों की शिक्षा की ओर सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया परंतु मिशनरियों ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया केवल बंगाल और असम में इस दिशा में सरकार ने कुछ कदम उठाए थे।

उपर्युक्त समय में शिक्षा की जो तस्वीर विक्टोरिया काल का प्रतिनिधित्व करती है, वह काफी संतोषजनक प्रतीत होती है। यह अंग्रेज अधिकारियों एवं जनता दोनों के लिए प्रसन्नता का विषय था। हॉवेल ने इसकी प्रशंसा में लिखा है–"ब्रिटिश तंत्र में भारतीय शिक्षा की सर्वप्रथम अवहेलना की गई, फिर उसे विद्रोह एवं विरोध से सफलतापूर्वक दबाया गया, उसके बाद उसका त्रुटिपूर्ण निर्माण किया गया, अब यह अपनी सही स्थिति में आ पहुँची है।"

हॉवेल ने आगे लिखा है कि विक्टोरिया काल शिक्षा का स्वर्ण काल था, क्योंकि 1854 तक विद्यमान समस्त विरोधाभासों तथा अनिश्चितताओं को एक निश्चित मार्ग मिल चुका था यद्यपि भारतीय शिक्षा पद्धति पूर्णरूपेण लुप्त हो गई थी, किंतु उसके लुप्त होने का किसी को भी दुःख नहीं था। इसके विपरीत लोग अंग्रेजी शिक्षा के आकर्षण में बंध गए थे। इसके विपरीत प्राथमिक विद्यालयों का एक घना जाल बन चुका था, जो प्रत्येक दृष्टिकोण से भारतीय स्कूलों की तुलना में श्रेष्ठ थे। इसके साथ ही भारतीय मुद्रणालय की स्थापना हुई तथा भारतीय जनजीवन में जागृति के अंकुर प्रस्फुटित होने लगे। भारतीय भाषाओं में नव साहित्य सृजन प्रारंभ हुआ। इतना ही नहीं अभी तक अनछुए क्षेत्र जो अब तक अत्यधिक कठिन समझे जाते थे, में शिक्षा का संचार होने लगा। यह थे महिला शिक्षा, हरिजन शिक्षा आदिम जनजातियों की शिक्षा। अब भारतीयों को भी शिक्षा के प्रचार का महत्व समझ में आ गया था तथा वे इसमें आवश्यक योगदान देने लगे। उदारमना व्यक्तियों ने व्यक्तिगत संस्थाएं स्थापित की, उदार दान दिये तथा शिक्षा को भारत के उत्थान के परिणाम के संदर्भ में देखने लगे।

– डॉ. खीमाराम काक
सहायक आचार्य,
विद्या भवन गोविन्दराम सेकसरिया शिक्षक महाविद्यालय, उदयपुर (राज.)
मो. 97840 26800

संदर्भः–

Naik, J.P. (1978). Educational Reform in India: A Historical Review. Bombay: Orient Longman Limited.

Nurullah, S. & Naik, J.P. (1964): *A Students' History of Education in India*, Bombay, Macmillan and Co Limited.

The Reort of the University Education Commission (December 1948- August 1949)

Lord Ellenborough's Despatch of 1858.

Lord Stanley's Despatch of 1859.

Howell : *Note on Education in India*, 1866-67.

Jauhari & Pathak (2009). *History of Indian Education*. shri Vinod Pustak Mandir, Agra.

Bandho padhyaya Shekhar, *Palasi to Partition,* Orient Blackswan, New Delhi

Indian Society and Education, SIERT, Udaipur

Golvalkar, Shobha & Others (2018): *Contemporary India and Education*, Udaipur, Himanshu Publication.

जन विरोधी समस्या का आधुनिक समाधान : एक चक्रानगरी

– डॉ. मृगेन्द्र राय

जब कोई रचनाकार अपनी पारिवेशिक स्थितियों से उद्वेलित होकर रचनारत होता है जब कोई विचार या भाव उसे उन्मथित करता है तो उस अनुभूत सत्य से लोगों को परिचित कराने अथवा अपने भावबोध को दूसरों के साथ बाँटने के उद्देश्य से वह साहित्य लेखन में प्रवृत्त होता है। उसकी सृजनशील कल्पना अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति के लिए अधिक विश्वसनीय और कलात्मक पीठिका तैयार करती है। हाँ, कल्पना प्रसूत नूतन उद्भावना और शैली की चारूता रचना को पठनीय और प्रभावोत्पादक बनाती है। आधुनिक सर्जकों ने अपनी रचनाओं में मिथकीय संदर्भो का बहुत सार्थक उपयोग किया है। 'अंधायुग', 'एक कंठ विषपायी', 'शम्बूक', 'उर्वशी' जैसी अनेक कृतियाँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। इन कृतियों में वर्तमान युगबोध को बड़े कौशल से मिथकीय चेतना से मंडित करके प्रस्तुत किया गया है। 'एक चक्रानगरी' भी ज्ञानेन्द्रपति द्वारा रचित ऐसा ही काव्य–नाटक है जिसमें बकासुर संहार के मिथक का आधार लेकर वर्तमान भ्रष्ट व्यवस्था, व्यापक शोषण, जन की उपेक्षा और संवेदना शून्यता को रेखांकित करते हुए जनशक्ति में निहित क्रांति चेतना को जागृत करने का प्रयत्न किया गया है। इस काव्य–नाटक का कथानक महाभारत के आदि पर्व पर आधारित है। महाभारत कार लिखते है :–

समीपे नगरस्यस्य बको इसति राभ्रसः ।

ईशो जनपद स्यास्य पुरूस्य च महाबलाः ।।[1]

(इस नगर के निकट बक नामक एक महाबली राक्षस रहता है, वह इस जनपद और प्रदेश का स्वामी है।)

पुष्टो मानुषमांसेन दुर्नुद्विः पुरूषादकः ।

रक्षत्य सुरराण्नित्य मिमं अनपदं बलि ।।[2]

(बुद्धिवाला वह मनुष्यभक्षी असुरराज सदा इस जनपद की रक्षा करता है।) बकासुर का यह वर्णन अमानुषिक दुर्दान्त क्रियाओं का पुष्ट प्रमाण है। यह बकासुर राजसत्ता से संरक्षित आतंकवादी है जो अकरूण भाव से जनसामान्य का शोषण करता है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी प्रतीकात्मक दृष्टि से एक चक्रानगरी का वर्णन किया है

यह राज्य हा! असहाय है,

मरता, न करता हाय है।

मुझसे कहो, राजा यहाँ का कौन है?

कुछ यत्न वह करता नहीं,

कर्तव्य से डरता नहीं?[3]

मरती प्रजा है और रहता मौन है? कथानक के अनुसार बकासुर के लिए कोई एक व्यक्ति प्रतिदिन बकासुर का भोजन बनता है। विवश जनता स्वयं ही

भोजन वस्तु के रूप में उसके सम्मुख उपस्थित होती है। किंतु जब नगर सेठ की बारी आती है तो वह अपने धन बल से किसी धनहीन व्यक्ति को खरीद कर भेज देता है और स्वयं बच जाता है। इस संदर्भ में शासन की क्रूरता और पूँजीवादी प्रवृत्ति की स्वार्थ परता स्पष्ट झलकती है। यह भी व्यक्त होता है कि कुशासन के विकास में शासक और पूँजीपति वर्ग की मिली भगत होती है। ये दोनों मिलकर जन सामान्य का मनमाना शोषण करते हैं। आज हम देखते हैं कि शासक, पूँजीपति और नौकर शाह की साठ–गाँठ आम जनता के दुख दारिद्रय का मूल कारण है। इस दृष्टि से बकासुर एक मिथकीय पात्र तो है ही एक प्रवृत्ति विशेष का प्रतीक भी है। ज्ञानेन्द्रपति इस प्रवृत्ति को पूरी सजीवता के साथ चित्रित करते हैं। बकासुर कहता है –

चीर दूंगा
इन सबको
एक मनुष्य मैं एक ग्रास में
खाता हूँ।[4]

इन पंक्तियों में बकासुर की नृशंसता, क्रूरता और अमानवीयता स्पष्ट है। हमारे युग में जो लोग विपन्न जन समुदाय का कठोर भाव से शोषण करते हैं वे बकासुर के ही रूप है। वे भी जाने कितने मनुष्यों को निरंतर कवलित करते रहते हैं और इसमें गर्व का अनुभव करते रहते हैं।

समस्या के धरातल पर "एक चक्रानगरी" काव्य नाटक व्यक्ति से आरंभ होकर समष्टि तक को अपने में समेटे हुए अपनी प्रासंगिकता को सहज ही व्यापक धरातल प्रदान करता दिखाई देता है। इस काव्य नाटक में वर्तमान समय में छाए आतंक और शोषण को बकासुर तथा नगर के राजा के माध्यम से व्यक्त किया गया है। जनता निष्क्रिय होकर आने वाले भविष्य की ओर दृष्टि लगाकर बैठी है। इस काव्य नाटक में लोगों पर हो रहे अत्याचार, घुटन, व्यथा, विषाद को व्यक्त करने का प्रयास नाटकाकार ने किया है। इस संदर्भ में भीम का कथन कितना प्रासंगिक लगता है –

वारणावत के लाक्षागृह के दाह से अधिक
कष्टकर/लगती है मुझे/इस एक चक्रानगरी की
घुटन/देखो/ गाढ़े होते धुंए
के साथ लगता है जैसे/रात्रि का अन्धकार
एक चक्रानगरी के गर्भ से ही बाहर आ रहा हो[5]

रचनाकार ज्ञानेन्द्रपति ने वर्तमान युग की समस्या को आधार बनाकर अपनी बात कहने का प्रयास किया है। चारों ओर आतंक व्याप्त है इसका शिकार जनता ही होती है। शासक और सत्ताधारी तो अपनी स्वार्थ लोलुपता की सिद्धि के लिए बकासुर बने बैठे है। ये सत्ताधारी शासक अपनी क्षुधा शांत करने के लिए किसी भी वर्ग को नहीं छोड़ते। वक्त आने पर गरीब जनता को अपना शिकार बना लेते हैं लेकिन स्वार्थ सिद्धि हो जाने पर निर्दोष जनता को ही सभी अनर्थो की जड़ बनाते हैं। वर्तमान समय में अन्यायी वही बन बैठे हैं जिनके हाथ में न्याय का तराजू है।

इस काव्य नाटक में महाभारत के कथानक को लेकर नाटककार ने अपने युग के यथार्थ की अभिव्यक्ति की है। नाटककार ने शोषण और अत्याचार के विरूद्ध आवाज उठाते हुए पारम्परिक प्रसंग को एक नया अर्थ दिया है। मानव संकल्प ही बहुत बड़ी शक्ति है। बिना संकल्प के हम किसी भी बकासुर जैसे नर राक्षस का विनाश नहीं कर सकते। यही संकल्प जन–जन में व्याप्त हो जाए तो अपराजेय जनशक्ति बन जाती है। व्यक्ति अपने असीम बल, साहस और धैर्य से राष्ट्र और नगर पर आए संकट को दूर कर सकता है।

मानव का संकल्प/तिनके की तरह तोड़े जाते
मानव का/बज्रसंकल्प/बना देता है तिनके का अमोध
अस्त्र/इन्द्र पुत्रों और असुरों की अमानवीय
शक्ति/जिससे अन्ततः परास्त होती है।[6]

प्रस्तुत काव्य नाटक का दृष्टिकोण सुधारवादी है। मनुष्य के भीतर की शक्ति को पहचानना और अन्याय के खिलाफ आवाज उठाना ही नाटककार का मूल दृष्टिकोण रहा है। कुंती के माध्यम से एक माँ के मातृत्व की भावना को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया

है। महाभारत के प्रख्यात मिथक के आधार पर कविवर ज्ञानेन्द्रपति ने सामान्य जन के परिप्रेक्ष्य में अपने अधिकार को प्राप्त करने की दृष्टि दी है। आजादी के बाद नागरिक के मूलभूत अधिकारों में समानता का अधिकार सर्वोपरि है। प्रजातंत्र में हर नागरिक अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो, यही नाटककार का विशिष्ट उद्देश्य रहा है। इस संदर्भ में ब्राह्मण का कथन दृष्टव्य है –

हाँ, देवी! एक चक्रानगरी के नागरिक भूल गये यह/अन्धकार उनके बाहर ही नहीं भीतर भी छा गया/ऐसे में जो एक तीली की तरह जला अन्याय को चुनौती देने वाला आदि विद्रोही–गण/तीली की तरह ही बुझ गया उसकी जीभ काट दी गई/तिनकों के टोप के साथ शीश मरोड़ दिया गया और हम माथा झुकाये अपने भीतर/अन्धकार को पत्थर की तरह महसूस करते रहे।[7]

यह प्रायः सभी युगों की त्रासदी रही है कि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न लोग धन, बल से वस्तुओं का ही नहीं अभावग्रस्त व्यक्तियों का भी उपयोग करते रहे हैं। आज के युग में प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक उदग्र है। उक्त कथा में नगरसेठ अपनी बारी आने पर बकासुर के भोजन के लिए एक गरीब व्यक्ति को पैसे देकर खरीद लेता है। नाटककार इस घटना से उस दारूण यथार्थ को व्यक्त करता है जिसमें आज भी लोग अपने स्वार्थो के लिए धन बल के आधार पर गरीबों की बलि चढ़ाते रहते हैं। इस संदर्भ में दुखिया का यह कथन देखा जा सकता है –

अच्छा, समझ गया/मनुष्यों को खरीदते हो उनसे जैसे कि मुझे, जैसे कि इन्हें/सेवकों की ओर इशारा कर लेकिन मेरे लिए उनका क्या उपयोग है? लो, मेरी तो आँख ही नहीं खुली/यानी हमेशा से ऐसा ही हूँ अन्धकार और भूख की कीचड़ में अकेला/मुझे तुम खिला दो केवल भरपेट खिला दो/भर पेट भोजन..... जीवन में पहली बार और अन्तिम बार–बस[8]

आजादी के बाद हमारे राष्ट्र–नायकों ने सर्वे भवन्तु सुखिनः की परिकल्पना की थी किन्तु यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि आजादी की रोशनी आज भी कई गाँव तक नहीं पहुँच सकी है। यही नहीं आजाद नागरिक भर पेट भोजन की सुविधा से भी वंचित है। यहाँ लेखक ने साधारण भारतीय जन समाज की व्यथा को प्रभावी ढंग से चित्रित किया है। काव्य–नाटक में मिथकीय वस्तु को रचनाकार ने युगबोध के धरातल पर जो वैचारिक दृष्टि दी है, उससे उस पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है।

महाभारत के बकासुर संहार के मिथक को लेकर लेखक ने आधुनिक बोध की अभिव्यक्ति की है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था में शासक और शासित के यथार्थ को लेखक का राजा और उसका अन्यायी, अत्याचारी प्रतिनिधि बकासुर नगरी का रक्षक है किन्तु वह अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह न कर भक्षक बन बैठा है। नागरिक की भैंस उद्यान चर रही थी एक छोटे से अपराध के लिए बकासुर उसे दण्डित करता है यहाँ तक कि भैंस के साथ–साथ नागरिक के स्त्री–बेटों को भी इस दण्ड का भागीदार बनाता है।

गरीब ब्राह्मण भेजवान है वह भीम को बकासुर का भोजन ले जाने से रोकता है उसकी दृष्टि में 'अतिथि देवो भव' की भावना उद्भासित होती है। वह भेजवान के दायित्व का निर्वाह करता है किन्तु कुंती के हठ पर वह भीम को भेज देता है। आधुनिक समाज में गरीब ब्राह्मण के समान ऐसे कितने लोग हैं जो अतिथियों के प्रति निष्ठावान है। यह निष्ठा यदि कही अवशिष्ट है तो कह दीन–दुखियों में ही।

नाटककार ज्ञानेन्द्रपति ने बड़े कौशल से एक चक्रानगरी में वर्तमान युग की सारी विसंगतियों और विद्रूपताओं को रेखांकित करते हुए वर्तमान व्यवस्था का पर्दाफाश किया है। इसमें केवल वर्तमान स्थिति का चित्रण मात्र ही नहीं है बल्कि इसके समाधान का स्पष्ट सुझाव भी दिया गया है। ज्ञानेन्द्रपति का विश्वास है कि बकासुर के विनाश के लिए भीम जैसे सशक्त, साहसी और संकल्पशील व्यक्ति की आवश्यकता है, जो जनकल्याण के प्रति पूरी तरह समर्पित हो। यहाँ भीम भी

एक व्यक्ति न होकर जन साधारण के प्रतीक बन गये हैं। भीम और बकासुर का संघर्ष भ्रष्ट सत्ता और जनशक्ति का संघर्ष है। अगर सत्ता अमानवीय है तो शासित जनता को साहसपूर्वक उसके विरोध में खड़ा होना पड़ेगा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सभी जनक्रांतियों ने अपने वांछित विकास के लिए क्रूर सत्ता का विनाश किया है। ज्ञानेन्द्रपति यह भी सुझाते है कि शोषण का एक कारण अपनी दुर्बलता का पुरूषता भी है। कुंती का आग्रह भी विशेष रूप से अर्थवान है। कुंती उस सांस्कृतिक चेतना की प्रतीक है जिसमें व्यक्ति का समाष्टि में विलीन होना आत्म–विस्तार का प्रमाण है। व्यक्त स्वार्थो के संकुचित घेरे में आत्मरक्षा का उपाय मनुष्य को स्वार्थी और संकीर्ण बनाता है। किन्तु व्यापक मानवीय कल्याण के लिए किया गया बलिदान जीवन को सार्थकता प्रदान करता है। भीम का बलिदान इसी सत्य को पुष्ट करता है। बकासुर की पराजय जनशक्ति के महत्व का रेखांकन है जो भीम के साहस और संकल्प से सिद्ध होता है।

ज्ञानेन्द्रपति का स्पष्ट संकेत है कि समाज में स्वस्थ वातावरण निर्मित करने के लिए बकासुर जैसी प्रतिरोधी अमानवीय शक्तियों को मिटाना होगा और उसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को उदात्त जीवन मूल्यों मे निष्ठा रखते हुए साहसपूर्वक सार्थक जीवन के संकल्प का वरण करना होगा।

हिन्दी, विभाग गुरूनानक खालसा कॉलेज
माटुंगा (पूर्व) मुम्बई–400019
मोबा. 9869158885

संदर्भः–

1. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय 148/3
2. वही, अध्याय 148/4
3. जयभारत, मैथिलीशरण गुप्त, पृष्ठ 86
4. नटरंग, अंक 42 में प्रकाशित एक चक्रानगरी पृष्ठ 19–20
5. वही, पृष्ठ 7
6. वही, पृष्ठ 23
7. वही, पृष्ठ 14
8. वही, पृष्ठ 18

उत्तराखण्ड में सामाजिक न्याय दर्शन और अम्बेडकरवादी विचारधारा का एक ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ. अन्जू बाली पाण्डेय
एसोसिएट प्रोफेसर,
इतिहास विभाग
डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज,
देहरादून

– प्रभाकर पाण्डेय
शोधार्थी
इतिहास विभाग
डी.ए.वी.पी.जी. कॉलेज,
देहरादून

शोध सार – अंबेडकरवादी विचारधारा ने समग्र भारतीय समाज के विभिन्न आयामों को ठीक उसी प्रकार से प्रभावित किया है जिस कदर गाँधीवादी चिंतन ने। इतिहास गवाह है कि उत्तराखण्ड में दलितों का लम्बे समय से शोषण होता रहा है। भारतीय संविधान के प्रमुख निर्माता तथा अछूतों के महान नेता के रूप में बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर का सामाजिक न्याय दर्शन का दृष्टिकोण उत्तराखण्ड में परंपरागत समाज के बीच अधिक विकसित हुआ है। डोला पालकी आंदोलन के माध्यम से जयानन्द भारती ने अंबेडकरवादी समानता दर्शन का प्रचार–प्रसार किया। डोला और पालकी में नव विवाहित दलित पुरूष और स्त्री को बैठने का अधिकार नहीं था, दलित जाति के दुल्हे और दुल्हन को पैदल ही जाना पड़ता था। जयानन्द भारती के प्रयासों से इस कुप्रथा को समाप्त किया जा सका। आजादी के बाद उत्तराखण्ड के युवाओं में अंबेडकरवादी न्याय दर्शन का प्रभाव देखा जा सकता है। वर्तमान स्थिति में उत्तराखण्ड में दलित अपने आपको आज भी हाशिये में पाता है। समाज में वर्ण भेद, जाति भेद तथा अस्पृश्यता के विरूद्ध विद्रोह, के संघर्षपूर्ण, रोचक, रोमांचक, उत्तेजक तथा प्रेरक उदाहरण देखनें को मिल जाते हैं। उत्तराखण्ड के छोटे–बड़े मंदिरों में आज भी अस्पृश्यों को प्रवेश से वंचित रहना पड़ता है। इसी अध्ययन के

सिलसिले में चमोली जनपद के गौचर कसबे के बौंला ग्रम भ्रमण के दौरान सहभागी अवलोकन के द्वारा निरीक्षण करने से ज्ञात हुआ कि गाँव में दो अलग–अलग जल धारायें हैं, एक जल धारा से समाज के दलितजन पानी भरते हैं और दूसरी जल धारा से समाज के अभिजात लोग पानी भरते हैं। अन्ततोगत्वा यह हालत उत्तराखण्ड की ही नहीं बल्कि दक्षिण भारत, पूर्वी भारत, पश्चिमी भारत, मध्य भारत में भी यही स्थिति है।

प्रस्तावना–समाजिक न्याय मानवीय समाज का एक सामान्य सिद्धांत है, जो व्यक्ति विशेष को वह हक व हकूक प्रदान करता है जो उसे समाज प्रदत्त करता है । इस संदर्भ में प्रख्यात मानवीय चिंतक 'जूलिया जैरी' तथा 'डेविड जैरी' ने अपने शब्दकोश 'कौलिंस डिक्सनरी ऑफ सोसियालोजी' में कहा है कि –

"The definition, A common sense one, has also received many Philosophical Formulations, including classical philosophers from Aristotle to Kant. More recently the ideas of the American philosophers John Rawls have been highly influential." Further he mentioned "social justice, general conceptions of 'Social Fairness, which may or not be at odds with conceptions of 'individual justice,' or with conceptions of justice in sense."

अमेरीकी चिंतक जान रावल्स ने सामाजिक न्याय की अवधारणात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए अपनी पुस्तक 'ए थ्योरी ऑफ जस्टिस' (1971 ई.) के अन्तर्गत सामाजिक न्याय के साथ–साथ वैधानिक न्याय, सामाजिक स्वच्छता न्याय की व्याख्या की है। सामाजिक न्याय की उपयोगिता के संदर्भ में न्याय के समग्र सकारात्मकताओं की व्याख्या करते हुए व्यक्ति तथा सामूहिक अधिकार के बीच सामंजस्यता स्थापित करने पर बल दिया । सामाजिक न्याय के चिंतन को पाणिनी के अष्टाध्यायी से लेकर कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज की इण्डिका, कालीदास की मेघदूत एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम्, शूद्रक के मृच्छकटिकम्, विशाखादत्त की मुद्राराक्षस आदि ऐतिहासिक पुस्तकों में भी सामाजिक न्याय के चिंतन पर व्यापक और विवेकशील प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नहीं हमारे दो महाकाव्य रामायण और महाभारत में भी समग्र सामाजिक न्याय के चिंतन को व्यापक रूप से विश्लेषित किया गया है, और इसमें समाज के विकास के लिये अपरिहार्य रूप से अवधाराणा को चित्रित किया गया है। सामाजिक न्याय के संबंध में मैकियावेली ने अपनी पुस्तक 'द प्रिंस' में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि, सामाजिक न्याय एक भारी–भरकम शब्दावली है, जो उस समाज की सभी दिशाओं को अपने आपमें आत्मसात करती है, चाहे वो वैधानिक न्याय का दर्शन हो, चाहे आर्थिक न्याय का दर्शन हो। इसी दर्शन का लोकतांत्रिक जामा धर्मनिरपेक्षता भी है। आधुनिक भारत में सामाजिक न्याय के दर्शन को सशक्तता प्रदान करने का कार्य महात्मा गाँधी, बाबा साहेब भीमराव अंबेडकर, ज्योति बा फुले, रामास्वामी नायकर (पेरीयार), के अलावा संत विनोबा भावे, श्रीमन्न नारायण गुरू आदि चिंतको को जाता है । सामाजिक न्याय दर्शन के प्रतिबिम्ब के रूप में स्वामी विवेकानंद, रामकृष्ण परमहंस, दयानंद सरस्वती, राजा राम मोहन राय, अरविंद घोष सरीके अनेक चिंतको ने इसे समाज के विकास के लिये अनिवार्य दर्शन का रास्ता बताया है। भारत में सामाजिक न्याय के दर्शन का चिंतन इसकी खुशबूदार मिट्टी में विद्यमान है। यही कारण है कि यह देश मिट्टी, चट्टान, पर्वत, पेड़–पौधों से लेकर प्रकृति की शक्ति की उपासना करता है और उसके सामने नतमस्तक होता है। बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर का सामाजिक न्याय दर्शन इन

समग्र अवधारणाओं से ओतप्रोत है, जिसकी झलक भारतीय संविधान के प्रारंभिक 395 अनुच्छेदों में देखने को मिलती है। बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर ने वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था, अस्पृश्यता, घृणा और प्रेम के अनुभवों से केवल भारतवर्ष को ही नहीं बल्कि समुचित दुनिया को परिचित कराने का सफल प्रयास किया। इन्होंने दक्षिण अफ्रीका के नस्ल भेदी आंदोलन एवं संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में गोरे और काले के बीच व्याप्त दर्द से सभी को परिचित कराया। गाँधी जी के द्वारा शूद्रों को हरिजन से संबोधित किए जाने के दर्द को महसूस करते हुए स्वतंत्रता संग्राम के बीच में ही व्याप्त अस्पृश्यता की अवधारणा को तार्किकतापूर्वक समाज के सामने रखने का सफल प्रयास किया। अंबेडकर ने अछूतों के उद्धार के लिये महाड़जल सत्याग्रह, नासिक कालाराम मंदिर सत्याग्रह, धर्मान्तरण की घोषणा के साथ–साथ कानून के निर्माता, कानून के शक्तिशाली पालन के पक्षधर रहे । समग्रता को अपने चरित्र में आत्मसात करने वाला कोई अनोखा व्यक्तित्व नहीं बल्कि डा. अंबेडकर हैं ।

अंबेडकर का दलित चिंतन दर्शन–

बाबा साहब का जन्म इन्दौर जिले के महू कैन्ट में 14 अप्रैल 1891 ई. में महार परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम रामजी, माँ का नाम भीमाबाई और इनका नाम भीम रखा गया। भीम अपने माता–पिता के चौदहवीं सन्तान थे प्रतिफल कभी–कभी हँसी में डॉ. अंबेडकर कहा करते थे कि मैं अपने माता–पिता का चौदहवाँ रत्न हूँ। अंबेडकर के पिता राम जी सेना में सूबेदार थे तथा दादा भी सेना में हवलदार के पद से सेवानिवृत्त हुए थे ।

डॉ. अंबेडकर के पिता सेना में सूबेदार के पद पर आसीन जरूर थे लेकिन उनकी बौद्धिक क्षमता की विलक्षणता को देखकर सभी आश्चर्यचकित थे। उन्होंने अंग्रेजी भाषा में अपने को पारंगत किया और अपनी सभी सन्तानों को शिक्षित करने का कार्य किया । सेना में प्रत्येक पलटन का एक स्वतंत्र स्कूल होता था, जहाँ सेना के लिए योग्य शिक्षक तैयार करने के लिए एक सामान्य स्कूल था उस स्कूल में सीखकर राम जी ने मास्टर का डिप्लोमा लिया और सैनिक स्कूल में मास्टर बन गये। सेना में अनिवार्य शिक्षा के नियम से महार परिवारों में शिक्षा का प्रसार हुआ, उस काल में सेना से बाहर के स्कूलों में महार लोगों के लिए दरवाजे बंद थे। डॉ. अंबेडकर की माता भी एक तेज तर्रार महिला थी, डॉ. अंबेडकर की शिक्षा और जीवन पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। बाबा साहब ने 1916 ई. में अपनी किशोर अवस्था में जाति व्यवस्था पर आलेख लिखकर भारतीय सामाजिक व्यवस्था के समक्ष कई सवाल खड़े किए। आजादी के बाद इन्होंने भारतीय संविधान व बहुजन समाज के चिंतन को भी प्रमुख रूप से दुनिया के समक्ष रखा ।

बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर, महात्मा ज्योतिबा फुले, पेरियार जैंसे दलित चिंतकों से अत्यधिक प्रभावित थे। बाबा साहब स्पष्ट रूप से जानते थे कि अस्पृश्यता हिन्दू समाज की व्यथा बन गयी है, उन्होंने स्पष्ट किया कि अस्पृश्यता की कथा हिन्दू समाज में कब और कैंसे प्रचलित हुई यह मतभेद का विषय है, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि अस्पृश्यता जाति भेद की और जाति भेद वर्ण भेद की उपज है। वर्ण भेद में ऊँच–नीच का भेदभाव होने से ही जाति भेद को प्रोत्साहन मिला और जाति भेद की चरम सीमा ही अस्पृश्यता की नीति बन गयी । भारत में अस्पृश्यता की जननी जाति भेद है और जाति व्यवस्था की जननी वर्ण व्यवस्था है, ऐसी मान्यता बाबा साहेब अंबेडकर की थी। हिन्दू समाज के धार्मिक क्षेत्र में वेद तथा गीता के आधार को माना जाता है, जो वर्ण व्यवस्था को ईश्वरीयकृत बताते रहे हैं। वर्ण व्यवस्था रूढ़ि नहीं है, क्योंकि वे ईश्वरकृत है, इस काल्पनिक विचार प्रणाली के कारण वर्ण व्यवस्था की उपज जाति भेद तथा जाति भेद की

उपज अस्पृश्यता को तथाकथित धर्म ग्रंथों में स्थान मिला और उनको ही धर्म माना गया। समाज सुधार की प्रगति में जाति तथा वर्ण व्यवस्था ने नकारात्मकता का बोध सदैव कराया है और अछूत समाज को वर्ण व्यवस्था व जाति व्यवस्था की सकारात्मकता से संतुष्ट नहीं करा सका। यह सत्य है कि अछूत समाज वर्ण व्यवस्था को अछूतपन की जड़ समझता है और चाहता है कि वर्ण व्यवस्था को शीघ्र समाप्त किया जाये। अंबेडकर ने अपने जीवन दर्शन के तहत स्पष्ट रूप से लिखा है कि वेद में वर्ण व्यवस्था की क्रमशः रचना का इतिहास पाया जाता है। इन सारे विश्लेषणों से परे हटकर बाबा साहब ने बौद्ध धर्म ग्रंथ मज्झिम निकाय का हवाला देते हुए कहा कि यह ग्रंथ समानता पर आधारित है और चातुर्वर्णीय व्यवस्था मानवकृत है। इनकी मान्यता है कि वेद मनुष्य कृत हैं और वैदिक वर्ण व्यवस्था मनुवादी व्यवस्था पर टिकी हुयी है। बाबा साहेब ने पुरोहितवाद और जातिवाद भेद का विरोध किया और प. जवाहर लाल नेहरू की पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' का हवाला देते हुए कहा कि हिन्दुस्तान में ब्राह्मण वर्ग ने विचारकों और दार्शनिकों को उत्पन्न करने के अतिरिक्त स्वयं शक्ति प्राप्त कर ली थी, इस प्रकार अपने को सुरक्षित रखकर पुरोहितों ने अपने निहित स्वार्थ की रक्षा करने की ठान ली थी । 1956 ई. में बौद्ध धर्म के अनुयायी के रूप में अचानक डॉ. अंबेडकर का चिंतन अग्रसर नहीं हुआ बहुत पहले से उनकी मान्यता थी कि, वर्ण भेद का विरोधक बौद्ध धर्म है । बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण धर्म की जड़ को हिला दिया था, उसको ठीक से मजबूत बनाने का काम ब्राह्मण वर्ग ने प्रारंभ किया और जाति व्यवस्था को संकुचित और कठोर कर दिया। स्मृति ग्रंथ लिखे जाने लगे और उनमें ईश्वरीयकृत जन्मना वर्ण व्यवस्था, जाति भेद तथा अस्पृश्यता, इनको धर्म के नाम पर समर्थन करके उनका धर्म अनुसार नियम बनाये गये, वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में जाति भेद की प्रथा प्रारंभ हुयी। आचार–विचार संबंधी शुद्धता का बुरा परिणाम यह हुआ कि अलग रहने की प्रवृत्ति और छुआछूत ने उन्नति की, और गैर विरादरी वालों के साथ खाना–पीना मना किया गया जिससे यह बात इतनी बढ़ी की दुनिया भर में ऐंसी मिसाल कहीं नहीं मिलती। स्वामी शंकराचार्य को अद्वैतवाद के प्रबल समर्थक व प्रचारक के रूप में स्वीकार किया जाता है, इनकी मान्यता है कि सब कुछ ब्रह्म है और ब्रह्म के सिवाय कुछ नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि वर्ण और जाति व्यवस्था मिथ्या है, यह अद्वैतवाद की सबसे बढ़ी मान्यता है। इस संबंध में स्वामी विवेकानन्द को भी अद्वैतवादी माना गया , अंबेडकर का मानना था कि दुनिया में किसी भी प्रकार का छुआछूत यदि कहीं है तो वह भारत में है। अछूतों पर अत्याचार ब्राह्मण, मुसलमान और अंग्रेजों ने किया, बाबा साहेब ने कहा कि "मुझे संस्कृत भाषा पर गर्व है और मैं चाहता हूँ कि मैं संस्कृत भाषा का अच्छा विद्वान बनूँ परन्तु संस्कृत के ब्राह्मण अध्यापक ने कहा कि मैं अछूत बालक को संस्कृत नहीं सिखाऊँगा ब्राह्मण अध्यापक की संकुचित मानसिकता के कारण मैं संस्कृत सिखने से वंचित रहा"। वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी भाषा के संदर्भ में बाबा साहब ने लिखा कि "मैं अंग्रेजी अच्छे प्रकार से लिखता–बोलता हूँ परन्तु मेरे पिता ने जिस प्रकार मुझे सिखाया वैसे किसी अध्यापक ने नहीं सिखाया"।

बाबा साहेब ने परंपरा को आधुनिकता पर अधिक महत्वपूर्ण माना है, बाबा साहेब को महाविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करते हुए अस्पृश्यता का शिकार होना पड़ा था। उन्होंने लिखा है कि "स्कूल में मुझे पीने के लिए पानी तक नसीब नहीं होता था बिना पानी के कई दिन बिताये"। ऐसी ही हालत बंबई के एलफेस्टन कॉलेज में भी थी अध्यापक तथा विद्यार्थियों से भी बाबा साहेब को अलग रखा जाता था, शिक्षा के दौरान बाबा साहेब के साथ अभिजात जातियों के द्वारा जो वैमनस्यता फैलायी

गयी उससे वह बुरी तरह से आहत थे। इस व्यथा को बाबा साहेब ने 1915 ई. में 'एनसेंट इण्डियन कामर्स' नामक शोध प्रबंध में लिखा। कोलंबिया विश्वविद्यालय से डिग्री प्राप्त करने के दौरान प्रोफेसर सेलिमन ने कहा कि "भीमराव अंबेडकर हिन्दी विद्यार्थियों में ही नहीं बल्कि अमेरिकन विद्यार्थियों में भी श्रेष्ठ हैं और उनका आचरण व्यवहार पूर्ण है। बाबा साहेब को सामाजिक क्रांतिकारी के नाम से जाना जाता है। समाज की पुनःरचना के लिए समता की संकल्पना को आवश्यक मानने वाले गरम दल के लोग अंबेडकर को राजनैतिक प्रतिक्रियावादी और समाजवादी समर्थक मानते थे। अंबेडकर ने स्वयं कहा कि, मैं ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति सतत् एकनिष्ठ रहा हूँ। वे नियमित रूप से सदैव अछूतोद्धार के हितैषी रहे, जीवन के कटु अनुभवों से अंबेडकर ने सीखा था कि, दलितों की स्थिति में सुधार समतामूलक समाज की स्थापना के व्यापक आंदोलन का हिस्सा है। डॉ. अंबेडकर विदेश से शिक्षा प्राप्त करके भारत लौटे, जीवन के कटु अनुभवों ने परंपरागत भारतीय वर्ण व जाति व्यवस्था के प्रति उनकी मनःस्थिति ने हिन्दूवादी व्यवस्था के विरोध में अपनी भावनाओं को निर्मित किया और दलितों के उद्धार के लिए सदैव सजग रहे ।

भारत के कानून मंत्री बनने के बाद उन्होंने समतामूलक समाज बनाने के लिए अनेक नियामकों का साथ दिया लेकिन भारत की परंपरा में बसी हुयी छुआछूत कम नहीं हो पायी, प्रतिफल 1956 ई. में लाखों दलितों के साथ बंबई सभा में अपने को बौद्ध धर्म से जोड़ दिया। इस संदर्भ में मधुलिमये की मान्यता है कि बाबा साहेब ने प्रथम गोलमेज सम्मेलन में अपने भाषणों में स्पष्ट शब्दों में कहा "दलित वर्ग और ब्रिटिश एक असाधारण बंधन में बंधे हैं, दलितों ने सनातनी हिन्दुओं के सदियों से अत्याचार सहे हैं, दलितों ने अंग्रेजों के लिए हिन्दुओं, मुसलमानों एवं सिक्खों के खिलाफ लड़ाईयाँ लड़ी और उनके लिए भारत का महान साम्रज्य जीता"। दूसरे गोलमेज सम्मेलन में दलित वर्ग के प्रतिनिधित्व के सवाल पर डॉ. अंबेडकर और गाँधी जी के बीच मतभेद उत्पन्न हुआ, डॉ. अंबेडकर का जीवन दर्शन अस्पृश्यता के विरोध और समतामूलक समाज की स्थापना से रहा है, हमेशा उनकी मान्यता थी कि दलितों को ब्राह्मणवाद और जाति प्रथा से मुक्त कराना है। 1938 ई. में रेल मजदूरों को संबोधित करते हुये उन्होंने कहा कि दलितों के दो शत्रु हैं ब्राह्मणवाद तथा पूंजीवाद, ब्राह्मणवाद का अभिप्राय स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे की भावना का निषेध है ना कि किसी जाति समूह से है। अंबेडकर मूलतः समतामूलक समाज की स्थापना को लेकर जीते रहे।

उत्तराखण्ड में दलित चिंतन का उद्भव और विकास –

उत्तराखण्ड में अंबेडकरवादी दर्शन का प्रभाव स्पष्ट रूप से खुशीराम, जयानन्द भारती, बच्चीराम आर्य, बुद्ध देव आर्य, हरि प्रसाद टम्टा, परिपूर्णानन्द पैन्यूली आदि समाज सुधारकों पर पड़ा। 1930 ई. में उत्तराखण्ड के नैनीताल में खुशीराम आर्य के द्वारा दलित समाज को यज्ञोपवीत संस्कार करने तथा दलितों के नाम के पीछे आर्य संबोधन के लिये आंदोलन किया गया। दलितों द्वारा जनेऊ धारण करने से सवर्ण वर्ग में असंतोष पैदा हो गया क्योंकि यह वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था के प्रतिकूल था। 1934 ई. में खुशीराम के प्रयासों से इस समतावादी आंदोलन को राष्ट्रीय धारा से जोड़ दिया गया।

1925 ई. में खुशीराम, हरिप्रसाद टम्टा, बच्चीराम आर्य, आदि समतावादी विचारकों के प्रयास से कुमाऊँ में अल्मोड़ा के पास ड्योलीडांडा में एक बहुत बड़ा दलित सम्मेलन हुआ। 1920 ई. के दशक में गाँधी जी ने कुमाऊँ की यात्रा की जिसका असर यह हुआ कि स्थानीय जनता जिसमें सवर्ण वर्ग तथा महिलाएँ भी

शामिल थी इस समतावादी आंदोलन से जुड़ गये। प्रतिफल ब्राह्मणों ने संयुक्त भोजन कार्यक्रम के साथ–साथ खेतों में हल जोतने का कार्य किया। भारत रत्न पण्डित गोविन्द बल्लभ पंत के नेतृत्व में 1932 ई. में कुमाऊँ के अल्मोड़ा में कुर्मांचल समाज सम्मेलन का आयोजन हुआ, इसी बीच 'अछूत कोई नहीं' नारों के उद्घोषों को करता हुआ सवर्णों का एक बहुत बड़े समूह ने टम्टा समाज के धारों (नलों) पर पानी भरा और पिया। 1941 ई. में बागेश्वर के शिल्पकार सम्मेलन में विभिन्न प्रस्तावों को पारित किया गया, इनमें सेना मे भर्ती का अधिकार, जमीन स्वामित्व अधिकार, निशुल्क शिक्षा अधिकार, सरकारी नौकरी, समानता, सुरक्षा आदि प्रमुख विषय थे।

गढ़वाल मण्डल में समतावादी विचार के प्रचारक भारत के स्वतंत्रता संग्राम सेनानी एवं सामाजिक समानता के अग्रणी जयानन्द भारती के योगदान को भला कौन नहीं जानता। आपने शिल्पकार दूल्हे और दुल्हनों को डोली और पालकी में बैठने का अधिकार दिया, इसी आंदोलन को डोला पालकी आंदोलन के नाम से जाना जाता है।

हरि प्रसाद टम्टा ने दलितों को शिल्पकार नाम दिया, 1905 ई. में इन्होंने टम्टा सुधार सभा का गठन किया जिसे बाद में शिल्पकार सभा के नाम से जाना गया। दलितों में सामाजिक चेतना, स्वतंत्रता, समानता आदि विषयों को लेकर 1934 ई. में अल्मोड़ा से 'समता' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया, 1935 ई. से इस पत्रिका का संपादन का कार्य लक्ष्मी टम्टा के हाथों में आ गया।

स्वाधीनता संग्राम सेनानी, संपादक, लेखक, सांसद, दलित आवाज को उठाने वाले परिपूर्णानन्द पैन्यूली ने उत्तर प्रदेश के हरिजन सेवक संघ के सचिव के रूप में कार्य करते हुये 1950 ई. के दशक में दलितों को मंदिर में प्रवेश के लिए आंदोलन चलाये। जिसके तहत उत्तराखण्ड के प्रसिद्ध चार धामों, बद्रीनाथ, केदारनाथ, यमुनोत्री, गंगोत्री के मंदिरो में सवर्णों के भारी विरोध के बावजूद प्रवेश कराया। सिरमौर (हि.प्र.) में दलितों से सवर्णों के धारे (नल) से पानी भरने के एवज में आपको जेल भी जाना पड़ा। उत्तराखण्ड की दून घाटी में परिपूर्णानन्द पैन्यूली दलितोद्धार के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर थे। दलितों की समानता, स्वतंत्रता, सुरक्षा आदि विभिन्न विषयों को सकारात्मक रूप के सशक्त तरिके से उठाने के लिए 1996 ई. में भारतीय दलित साहित्य अकादमी द्वारा इन्हें 'डॉ. अंबेडकर पुरस्कार' से सम्मानित किया गया।

दलित चेतना के संबंध में हरि प्रसाद टम्टा, खुशीराम आर्य, बच्चीराम आर्य, जयानन्द भारती, परिपूर्णानन्द पैन्यूली आदि समाज सुधारकों ने अभूतपूर्व कार्य किया, परिणामस्परूप दलितों में विवेकशीलता, जागरूकता का संचार हुआ जिससे वर्तमान समय में दलितों का सर्वांगीण विकास स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित होता है, फिर चाहे शिक्षा का क्षेत्र हो, सरकारी नौकरी में प्रतिभागिता हो, राजनीतिक अभिरूचि हो या सामाजिक समानता हो।

उद्देश्य–

1. आधुनिक भारत के इतिहास में महात्मा गाँधी के बाद सबसे बहुचर्चित चिंतक के रूप में और सामाजिक न्याय दर्शन की विचारधारा को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मंच पर उठाने का जो कार्य डॉ. भीम राव अंबेडकर ने किया, इस परिप्रेक्ष्य में सामाजिक न्याय के दर्शन को लेकर भारतीय दलित समुदाय की मान्यता को परखने के उद्देश्य को लेकर शोध पत्र लिखा गया है।

2. भारतीय संविधान निर्माता के रूप में न्याय को परिभाषित करते हुये दलितों के अधिकारों, उनकी पहचानों, का लक्ष्य रखते हुये दलितों की सोच को

बदलने में अंबेडकरवादी न्याय दर्शन कितना प्रभावी रहा है इसको देखना भी शोधपत्र का मूल उद्देश्य है।

निष्कर्ष– अंबेडकर के सामाजिक न्याय के दर्शन के विश्लेषण से स्पष्ट है कि इनके चिंतन का प्रभाव दलित समाज पर अधिक पड़ा है। विशेषकर 1956 में बंबई के बौद्ध सम्मेलन के बाद दलितों के मसीहा के रूप में दलित वर्ग इनको स्वीकार करने लगे। अंततः स्पष्ट होता है कि डॉ. अंबेडकर का सामाजिक न्याय दर्शन वस्तुनिष्ठता का प्रतिबिम्ब है, जिसे दलित समुदाय अपना आदर्श मानते हैं और प्रतिवर्ष 14 अप्रैल को इसे उत्सव के रूप में मनाते हैं। शोध के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दलितों की सामाजिक उन्नति, राजनीति जागरूकता, कानूनी जागरूकता, संवैधानिक अधिकारों के प्रति जागरूकता, स्वतंत्रता और समानता के अधिकारों के प्रति जागरूकता, आर्थिक उन्नति आदि सभी आयामों पर अंबेडकरवादी चिंतन का सकारात्मक प्रभाव पड़ा है।

शोधार्थी
मोबा. 70601 37839

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. अंबेडकर, बी.आर., 'द अनटचेबल्स', अमृत बुक कं., नई दिल्ली, 1948
2. अंबेडकर, बी.आर., 'हू वर द शूद्राज', थैकर एण्ड कं., मुंबई, 1946
3. आहूजा, राम, 'भारतीय सामाजिक व्यवस्था', 'रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 1999
4. बलोदी, राजेन्द्र प्रसाद, 'उत्तराखण्ड समग्र ज्ञानकोश', बिनसर पब्लिकेशन कं0 देहरादून, 2010
5. ग्रोवर, बी.एल. व यशपाल, 'आधुनिक भारत का इतिहास', एस.चन्द एण्ड पब्लिकेशन कं. लि., नई दिल्ली 2001
6. जैरी, डेविड व जैरी जूलीया, 'कॉलिंस डिक्सनरी ऑफ सोशियोलाजी' हार्पर कॉलिंस पब्लिशर, ग्लासगो, 2006
7. मधुलिमये, 'डॉ अंबेदकर एक चिंतन', सरदार बल्लभ भाई पटेल एजुकेशन सोसाईटी, नई दिल्ली, 1990
8. उत्तराखण्ड अनुसूचित आयोग, देहरादून।

डॉ. रामविलास शर्मा की बुद्ध वैराग्य कविता और बुद्ध दर्शन

– डॉ. संजय रणखांबे

डॉ. रामविलास शर्मा की बुद्ध वैराग्य यह लंबी कविता सन् 1933 में लिखित है। समस्त संसार के मनुष्य को दुःख से मुक्ति प्राप्त करने का सर्वजन सुलभ मार्ग बुद्ध ने दिखाया। इसलिए वे मार्गदाता कहलाते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने बुद्ध को भारतभूमि का एक रत्न कहा है। डॉ. धर्मानंद कोसंबी ने 'भगवान बुद्ध' : जीवन और दर्शन ग्रंथ में प्रतिपादित बुद्ध के गृहत्याग के ऐतिहासिक सत्य को अपनी कविता में अभिव्यक्त करते हुए डॉ. शर्मा जी ने लिखा है –

जीवन–मरन–जरा यौवन–सुख–दुःख–मय यह अनित्य संसार।
इसी विषय पर रहता था चिंतित निशिदिन वह राजकुमार।

(बुद्ध वैराग्य तथा प्रारंभिक कविताएँ, डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 22)

बुद्ध ने जीवन की क्षणभंगुरता और अस्थिरता को देखकर जीवन के अंतिम सत्य की खोज की। जहाँ जरा, मृत्यु, रोग और शोक का अस्तित्व होता है वहाँ सुख और शांति नहीं हो सकती। बुद्ध ने जो चार आर्य–सत्य प्रतिपादित किए है उनमें से पहला है, जीवन दुःखमय है। हर कोई इस दुःखमय जीवन से मुक्ति चाहता है। डॉ. रामविलास शर्मा जी ने इस आर्य सत्य का ही प्रतिपादन निम्न पंक्तियों के माध्यम से किया है –

जरा–मृत्यु औ रोग–शोक पर रहते जिस भूतल में
कैसे वास करेंगे सुख आनंद शांति उस थल में ?
नाशवान है जग, अस्थिर है प्रेम, क्षणिक जीवन हैं।
एक सत्य है मृत्यु, सृष्टि का वा चिर परिवर्तन है।

(वही, पृ. 24–25)

इस संबंध में डॉ. शर्मा ने लिखा है–"बुद्ध सामाजिक विषमता से परिचित थे। वह जानते थे कि मनुष्य के दुःख का कारण रोग या मृत्यु नहीं है। मनुष्य के जो सामाजिक संबंध है, उनमें रहकर भी मनुष्य कष्ट पाते हैं।'' (रामविलास शर्मा,

शंभुनाथ, पृ. 36)

बुद्ध ने कहा है कि मनुष्य अपने जीवन में अपनी शीलहीनता के कारण ही दुख पाता है। बुद्ध के इसी उपदेश को शब्दबद्ध करते हुए कवि ने लिखा है –

दुख पाने को ही जन्मे, आजीवन दुख पाओगे।
शीलहीन यों ही निराश दुख सह सह मर जाओगे।

(वही, पृ. 28)

अर्थात् शील और सदाचारण से युक्त आचरण से ही वह दुःख से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। परंतु अज्ञानतावश और कर्मकांड में फँसकर इस दुःख से मुक्ति प्राप्त करने के लिए पशु की बलि दी जाती थी और अपनी मनोकामना पूरी करने के लिए आज भी पशु की बलि विभिन्न देवी–देवताओं को दी जाती है। बुद्ध ने इस हिंसक कर्मकांडो का विरोध किया और दुःख मुक्ति के लिए सचरित्र को महत्त्वपूर्ण माना। बुद्ध के इन विचारों को व्यक्त करते हुए कवि लिखते हैं –

शत्–शत् बलि पशुरक्ता न तृप्त करेगा उसके जी को।
मुक्ति न देंगे जप तप पूजा वन्दन ध्यान किसी को।

(वही, पृ. 28)

भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश ग्रंथ में बुद्ध के इस हिंसा संबंधी डॉ. शर्मा लिखते हैं–'यज्ञ हिंसा संबंधी बुद्ध कहते हैं, मनुष्य पहले मन में सोचता है, इस प्रकार हिंसा होगी। फिर उसके लिए आदेश करता है। इस प्रकार वाणी से हिंसा होती है। फिर सारी चीज कार्यरूप में परिणत की जाती है। तब कार्यरूप में हिंसा होती है।'

(रामविलास शर्मा, शंभुनाथ, पृ. 36)

ईश्वर पर भरोसा कर अपने दुख की मुक्ति संभव होगी इस सोच को बुद्ध अस्वीकार करते हैं। वे इस ईश्वर की धारणा को एक कल्पना मानते हैं। आज तक कोई भी मनुष्य ऐसे कपोल कल्पित ईश्वर का क्रन्दन–वंदन कर सुख या दुःख प्राप्त नहीं कर पाया है। डॉ. रामविलास शर्मा बुद्ध के इन विचारों को अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं –

कैसा क्रूर विधाता पर ? यह तो सब कल्पित माया!
क्रन्दन वन्दन कर ईश्वर से किसने सुख–दुख पाया?

(बुद्ध वैराग्य तथा प्रारंभिक कविताएँ, डॉ. रामविलास शर्मा पृ. 28)

बुद्ध की दृष्टि से स्वर्ग, ईश्वर संबंधी सारी मान्यताएँ काल्पनिक और मिथ्या है। इस संसार की केवल एक प्रकृति ही सनातन सत्य है, अंतिम सत्य है और इसी में मनुष्य की मुक्ति है। लौकिकता या भौतिकतावाद ही बुद्ध की दृष्टि से सत्य है। इसे ही ईहवाद कहा जाता है। मनुष्य अपने सभी प्रकार के बंधनों से मुक्ति इसी लौकिक प्रकृति में प्राप्त कर सकता है। स्वर्ग जैसी अलौकिक या काल्पनिक माया से उसे मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। बुद्ध की दृष्टि से मुक्ति का अर्थ 'मोक्ष' नहीं बल्कि लौकिक जगत् के सभी प्रकार के दुःख और बंधनों से मुक्ति है। इसी शाश्वत सत्य को उद्घाटित करते हुए कवि डॉ. रामविलास शर्माजी लिखते है –

मिथ्या स्वर्ग लोक, मिथ्या जग का स्वामी ईश्वर है।
एक सत्य यह प्रकृति सनातन ही प्रत्यक्ष अमर है।
स्वर्ग इसी में ईश इसी में बंधन मुक्ति इसी में।
विषम तामसी मायावृत्त सद्ज्ञानालोक इसी में।

(वही, पृ. 28)

बुद्ध इस सत्य को भी नकारते है कि कोई दिव्य अलौकिक पुरूष आकर पृथ्वीलोक के मनुष्य के दुःख–दर्द को, बंधनों को दूर करेगा। वे किसी भी तरह की अपौरूषता को अस्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि से मनुष्य के कठिन से कठिन बंधनों को कोई मनुष्य ही काट सकता है और प्रेम, शांति और सुख का संदेश संपूर्ण विश्व में फैला सकता है। कवि ने इस बुद्ध वाणी को अपनी कविता में व्यक्त करते हुए लिखा है –

बंधन कठिन तुम्हारे कोई मानव ही काटेगा।
आशा प्रेम शांति चिर–सुख से निखिल विश्व पाटेगा।

(वही, पृ. 28)

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि डॉ. रामविलास शर्मा जी की बुद्ध वैराग्य कविता में बुद्ध के गृहत्याग के कारण का ऐतिहासिक सत्य प्रस्तुत किया है। बुद्ध के सत्य, अहिंसा, प्रेम, सदाचरण और मनुष्य की मुक्ति को सर्वोपरि माननेवाली भौतिकवादी दृष्टि को अभिव्यक्त किया है। कवि मार्क्सवादी चिंतक है, अतः उनकी विचारधारा के लिए अनुकूल उन्होंने बुद्ध के स्वर्ग, नरक, ईश्वर आदि कर्मकांड को नकारनेवाले भौतिकवादी

शुभंकर अपार्टमेंट, विंग सी, ब्लॉक नं. 8, श्रीनगर, महाबल एरिया जलगांव–425002 (महा.) मो. 84110 88824

सुसंगति

एकबार स्थविर आनन्द तथागत के पास आये, अभिवादन कर एक ओर बैठ गये और कहा- '' भगवन ! सत्संगति आधा श्रेष्ठ जीवन है , कल्याण-मित्रता आधा श्रेष्ठ जीवन है, भलों की संगति आधा श्रेष्ठ जीवन है ।'' तब तथागत ने कहा- आनन्द ! ऐसा मत कहो । सत्संगति आधा नहीं पूरा श्रेष्ठ जीवन है । कल्याण-मित्रता आधा नहीं पूरा श्रेष्ठ जीवन है। भलों की संगति आधा नहीं, पूरा श्रेष्ठ जीवन है।

भिक्षुओं, जो भिक्षु सत्संगति में रहता है, जिसके कल्याण-मित्र है और जो भलों की संगति में रहता है, उससे हम यह आशा कर सकते है कि, वह आर्य आष्टांगिक मार्ग पर अधिक से अधिक प्रगति करेगा।

आनन्द ! ऐसा भिक्षु आर्य अष्टांगिक मार्ग पर अधिक से अधिक प्रगति करता है ?

आनन्द ! वह सम्यक दृष्टि का अभ्यास करता है, जो विरागाश्रित है, जो त्यागाश्रित है, जो निराधाश्रित है, वह सम्यक- संकल्प का अभ्यास करता है । वह सम्यक-वाणी का अभ्यास करता है । वह सम्यक-कर्मान्त का अभ्यास करता है । वह सम्यक-आजीविका का अभ्यास करता है । वह सम्यक-व्यायाम का अभ्यास करता है तथा वह सम्यक-स्मृति का अभ्यास करता है तथा वह सम्यक-समाधि का अभ्यास करता है-ये सभी त्यागाश्रित, विरागाश्रित है तथा निरोधाश्रित है।

आनन्द ! जो भिक्षु सत्संगति में रहता है, जिसके कल्याण- मित्र है और जो भलों की संगति में रहता है, वह आर्य अष्टांगिक मार्ग पर अधि क से अधिक प्रगति करता है।

इस तरह से आनन्द ! तुम्हें यह समझना चाहिए कि, यह जो सत्संगति में रहना है,यह जो कल्याण-मित्रता हैं, यह जो भले लोगों की संगति में रहना है, यह पूरा श्रेष्ठ जीवन है।

निश्चय से आनन्द ! जो जरा-धम्म प्राणी है, जो मरण-धम्म प्राणी है, जो दुख-शोक, रोने-पीटने वाले है , वे कल्याण मित्रता के परिणामस्वरुप इन सब से मुक्त हो जाते है। इस तरह आनन्द ! तुम्हें यह समझना चाहिये कि यह जो सत्संगति में रहना है, यह जो कल्याण मित्रता है, यह जो भलों की संगति में रहना है-यह पूरा श्रेष्ठ जीवन है।

नमो बुद्धाय, जय भीम !
भवतु सब्ब मंगलम्

बधाई

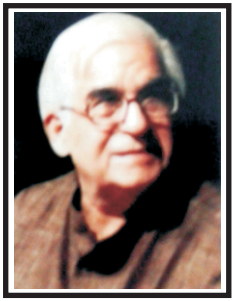

डॉ. देवेन्द्र दीपक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का पंडित दीनदयाल उपाध्याय साहित्य सम्मान 2020 विख्यात साहित्यकार डॉ. देवेन्द्र दीपक को दिया गया। इस सम्मान की सम्मान निधि रुपये पाँच लाख है।
सम्मान के विषय में पूछे जाने पर डॉ. दीपक ने कहा कि- यह सम्मान मेरा नहीं बल्कि उपेक्षित और वंचितों को समर्पित मेरी कलम का सम्मान है। पसीने की बूंदे मेरी कलम का सौन्दर्य शास्त्र है। अन्त्योदय से सर्वोदय की यात्रा मेरी कलम का समाज शास्त्र है। राष्ट्रहित मेरी कलम का धर्मशास्त्र है
डॉ. दीपक का एक बहुप्रसारित वाक्य है-

'' जल से नहाया आदमी स्वच्छ होता है,
लेकिन पसीने से नहाया आदमी पवित्र होता है। ''

बधाईकर्ता
आश्वस्त परिवार एवं समस्त साहित्यकार

पंजीयन संख्या
RNI No. MPHIN/2002/9510

डाक पंजीकृत क्रमांक मालवा डिवीजन/204/2021-2023 उज्जैन (म.प्र.)

प्रतिष्ठा में ,

_____

_____

_____

_____

पत्र व्यवहार का पता :
20, बागपुरा, सांवेर रोड,
उज्जैन 456 010 (म.प्र.)

प्रकाशक, मुद्रक पिंकी सत्यप्रेमी ने भारती दलित साहित्य अकादमी की ओर से
मालवा ग्राफिक्स, 29, वररुचि मार्ग, गुरुद्वारे के सामने, फ्रीगंज, उज्जैन फोन : 0734-4000030 से मुदित एवं
20, बागपुरा, सांवेर रोड, उज्जैन 456 010 (म.प्र.) फोन : 0734-2518379 से प्रकाशित।

सम्पादक : डॉ. तारा परमार